घु सिद्दान्त कौमुदीस्थ
हैलन्त
प्रकरणम्

लघु/मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्थ

हलन्त प्रकरणम्

सम्पादक :

डॉ० अमियचन्द्र शास्त्री 'सुधेन्दु'

एम० ए०, पी० एच० डी०, शास्त्री, साहित्याचार्य

विभिन्न संस्कृत संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-2

। मूल्य : 90.00

अनुक्रमणिका

हलन्त प्रकरणम्

अथ हलन्त पुल्लिङ्गा

(ढकार विधायक सूत्र)

१. हो ढः : ८ । २ । ३१ ॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च । लिट्, लिड् । लिहौ । लिहः । लिड्भ्याम् लिट्त्सु लिट्सु ॥

अर्थ—हकार के स्थान में ढकार का आदेश उस दशा में होवें जब पदान्त[1] अर्थात् पद के अन्त में, झल् प्रत्याहार[2] का कोई वर्ण परे या बाद में रहे ।

शब्द रूप सिद्धि—लिट्, लिड् । 'लिह>आस्वादने' धातु से क्विप् प्रत्यय को संयुक्त करने पर उक्त कृदन्त बन जाता है । अतः 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र द्वारा इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी । तत्पश्चात् प्रथमा विभक्ति एक वचन में 'सु' प्रत्यय जोड़ने पर—

लिह + सु

इस स्थिति में 'सु' प्रत्यय के उकार की इत्संज्ञा होकर उसका अनुबन्ध लोप हो गया । तब—

लिह + स् यह बना । तत्पश्चात् 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र द्वारा हलन्त वर्ण 'स्' का लोप होने पर 'हो ढः' इस सूत्र से हकार के स्थान पर ढकार का पदान्त के झल् (सकार) के परे रहने पर आदेश हो गया । तब—

---

१. **पदान्त**—'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र से सुप् अर्थात् सु, औ जस् इत्यादि शब्द रूपों के इक्कीस प्रत्ययों अथवा तिङ् अर्थात् तिप् तस् झि इत्यादि धातु रूपों के अठारह प्रत्ययों में से कोई भी प्रत्यय अन्त में हो जिससे उसकी पद संज्ञा होती है । इस प्रकार किसी शब्द या किसी धातु में तत्सम्बन्धित प्रत्यय जोड़कर रूप निष्पत्ति की प्रक्रिया में या पद संज्ञा बनने की स्थिति में उस पद के अन्तिम वर्ण को पदान्त कहते हैं । भले ही वह स्वर हो अथवा व्यंजन ।

२. **झल् प्रत्याहार**—माहेश्वर १४ सूत्रों के अन्तर्गत कुल ४२ प्रत्याहार बनते हैं । उनमें ही एक झल् प्रत्याहार भी होता है जिसका स्पष्टीकरण यह है—झभञ् । घढधष् । जबगडदश् । इत्यादि से लेकर अन्तिम सूत्र—'हल तक आने वाले सभी वर्ण (अन्तिम हल को छोड़कर) झल कहलाते हैं अर्थात् 'वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण तथा श ष स ह' ये सभी झल् प्रत्याहार में ही परिगणित होते हैं ।

'लिढ्+(स्)' बना। तदनन्तर 'वा ऽ वसाने' सूत्र द्वारा अवसान[1] की स्थिति में ढकार को विकल्प से चर्त्व अर्थात् अपने वर्ग का प्रथम अक्षर टकार होने पर 'लिट्' तथा चर्त्व न करने पर जश् अर्थात् अपने वर्ग का तृतीय वर्ण होने पर—'लिड्' ये दो रूप निष्पन्न हुए। इस प्रकार लिट्, लिड् रूप सिद्ध हुए।

लिहौ—प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में लिह् शब्द से परे 'औ' इस सुप् प्रत्याहार[2] के अन्तर्गत आने वाले प्रत्यय को लगाने पर 'लिह्+औ' यह बना। तदन्तर 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' के नियम द्वारा स्वर ही पद को बाद के वर्ण से मिलाने पर 'लिहौ' शब्द रूप सिद्ध हुआ।

लिहः—हलन्त लिह् शब्द से परे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में जस् प्रत्यय का विधान किया गया। तब 'लिह्+जस्' यह बना। उक्त स्थिति में 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप होने पर 'लिह्+अस्' इस दशा में स्वरहीन वर्ण को पर अर्थात् उसके बाद में आने वाले वर्ण से मिलाने पर 'लिहस्' रूप बना तत्पश्चात् 'खरवसानयो विसर्जनीयः' सूत्र द्वारा सकार को रुत्वविसर्ग करने पर 'लिहः' रूप सिद्ध हुआ।

लिड्भ्याम्—लिह्+भ्याम् इस स्थिति में 'होढः' सूत्र से हकार के स्थान पर पदान्त में झल् (भ्याम् के आदि में भकार) के परे पड़ने पर ढकार का आदेश हो गया तब 'लिढ्+भ्याम्' इस दशा में 'झलां जश् झशि' इस अपदान्त जश्त्व[3] सन्धि के नियम से ढकार के स्थान पर जश् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले तृतीय वर्ण डकार के होने पर 'लिड्भ्याम्' रूप सिद्ध हुआ।

लिट्त्सु, लिट्सु—लिह्+सुप् इस स्थिति में पकार की इत्संज्ञा[4] होने पर तथा उनके लोप होने पर—'लिह्+सु' यह बना। 'होढः' इस सूत्र से पदान्त में

---

१. 'विरामोऽवसानम्' सूत्र द्वारा जहाँ वर्णों का अभाव होता है अर्थात् जिस किसी पद के पश्चात् जब कोई स्वर या व्यंजन अथवा विसर्ग नहीं हो उसकी अवसान संज्ञा होती है।

२. **सुप् प्रत्याहार**—सु, औ, जस्। अम् औट् शस्। टा भ्याम् भिस्। ङे भ्यां भ्यस्। ङसि भ्यां भ्यस्। ङस् ओस् आम्। ङि ओस् सुप्। इस प्रकार सु से लेकर सुप् के अन्तिम हलन्त पकार तक शब्द रूपों के सभी प्रत्ययों का सुप् प्रत्याहार से बोध होता है।

३. **अपदान्त जश्त्व**—अपदान्त अर्थात् सुबन्त एवं तिङन्त से हीन किसी शब्द के आदि से अन्तिम भाग तक की अपदान्त संज्ञा होती है। अतः उस अपदान्त की दशा में उसके परे (बाद में) झश् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो अपदान्त के झल् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय चतुर्थ वर्ण तथा श ष स ह) के स्थान पर जश् (अपने वर्ग का तृतीय वर्ण) हो जाता है। यहाँ लिढ् अपदान्त है तथा भ्याम् का भकार झश् (वर्ग का तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण) अपदान्त से परे है। इस प्रकार ढकार के स्थान पर डकार का होना अपदान्त जश्त्व सन्धि के नियम में परिगणित होता है।

४. **इत्संज्ञा**—'हलन्त्यम्' सूत्र से सूत्र में जो अन्तिम हल् होता है उसकी इत्संज्ञा होती है तथा इत्संज्ञक वर्ण का 'तस्य लोपः' सूत्र के द्वारा लोप हो जाता है।

झल् सकार के परे रहते हुए हकार के स्थान पर ढकार का आदेश हो गया। तब 'लिढ्+सु' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से पद संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से ढकार को डकार हो गया तब 'लिड्+सु' यह बना 'ड: सि धुट्' सूत्र द्वारा अङ्ग लिड् के परे सकार होने पर धुट् का आगम हो गया तब 'लिड्+धुट्+सु' यह बना। धुट् के उकार तथा टकार का अनुबन्ध लोप होने पर 'लिड्+ध्+सु' इस स्थिति में 'खरिच' सूत्र से खर् प्रत्याहार के वर्ण सकार के परे रहने पर धकार को चर्त्व अर्थात् अपने वर्ग का प्रथमाक्षर तकार हो गया तब 'लिड्+त्+सु' इसके पश्चात् पुन: 'खरिच' द्वारा चर्त्व अर्थात् डकार को टकार होने पर 'लिट्त्सु' एवं धुट् आगम के अभाव में या धुडागम विकल्प से न होने की स्थिति में 'लिट्सु' ये दोनों रूप सिद्ध हुए

(धकार विधायक सूत्र)

२. **दादेर्धातोर्घः ।८।२।३२।।**

झलि, पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्यात् ।

अर्थ—उपदेश अवस्था में दादिधातुसम्बन्धी हकार के स्थान में घकार आदेश[1] उस स्थिति में हो जाता है जब पदान्त में झल् प्रत्याहार का कोई वर्ण परे रहते हो।

(भष् भाव सूत्र)

३. **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ।८।२।३७।।**

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष्, से ध्वे पदान्ते च। इह व्यपदेशिवद्-भावेन धात्ववयवत्वाद् भष् भावः। जश्त्वचर्त्वे। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। दुहा। धुग्भ्याम्। धुक्षु ।।

अर्थ—धात्ववयव जो झषन्त एकाच् (एक स्वर वाला) उसका अवयव जो 'वश्' होता है, उसको भष् भाव उस दशा में हो जाता है जब सकार और 'ध्व' शब्द पदान्त में परे रहते हों।

---

१. आदेश—व्याकरण की भाषा में आदेश की प्रवृत्ति शत्रुवत् होती है अर्थात् शत्रु जिस प्रकार अपने शत्रु को उसके स्थान से हटाकर स्वयं उसकी गद्दी पर अपना अधिकार ही नहीं कर लेता प्रत्युत उसके स्थान पर ही विराजमान हो जाता है, उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र में शब्द व्युत्पत्ति या रूप सिद्धि की प्रक्रिया में किसी वर्ण या वर्ण समूह वाले प्रत्यय का जिस अवयव या शब्दांश के स्थान पर आदेश होता है उसे पहले वहाँ से पूर्णतः हटा दिया जाता है। जैसे दुह् धातु के हकार को धकार आदेश हुआ।

शब्द रूप सिद्धि—धुक्, धुग् । 'दुह् प्रपूरणे' + क्विप् ।[1] क्विबन्त या इसके कृदन्त शब्द होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से दुह् शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी। तत्पश्चात् प्रथमा एक वचन में 'सु' प्रत्यय लगाने पर एवं उकार अनुबन्ध के लोप होने पर 'दुह्+स्' यह रूप बना। 'दुह्+स्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इत्यादि सूत्र से स लोप प्राप्त हुआ तब हकार के स्थान पर 'होढः' सूत्र से ढकार के प्राप्त होने पर तथा उसको बाधितकर 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र द्वारा दादि धातु 'दुह' को हकार को घकार हो गया तब 'दुघ्' हो गया। तत्पश्चात् 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्यस्ध्वोः' के द्वारा दकार को धकार हो गया, तब 'धुघ्' बनने पर झलां जशोऽन्ते के द्वारा जश्त्व सन्धि नियम से घकार के स्थान पर जश्त्व 'गकार' तथा 'वाऽवसाने' सूत्र द्वारा विकल्प से चर्त्व होने की स्थिति में उसे ककार (प्रथमाक्षर) होने पर क्रमशः 'धुग्, धुक्' ये दो रूप सिद्ध हुए।

दुहौ—दुह् <प्रपूरणे धातु से क्विप् प्रत्यय लगने पर यह कृदन्त शब्द बन गया। तब 'कृत्तद्धित०' इत्यादि से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'दुह्+औ' रूप बना 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' के नियम से परस्पर मिलाने पर 'दुहौ' रूप निष्पन्न हुआ।

दुहः—दुह् धातु से क्विप् प्रत्यय एवं सर्वापहार लोप होकर तथा उसके कृदन्त बनाने पर पातिपदिक संज्ञा की। उसके बाद प्रथमा व द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के जस् तथा शस् प्रत्ययों के जकार शकारादि का अनुबन्ध लोप होने पर दुह्+अस् रूप बना तदनन्तर हल् स्वर को संयुक्त करके एवं सकार का रुत्व विसर्ग होने पर 'दुहः' ये रूप सिद्ध हुए।

दुहा—'दुह् <प्रपूरणे' धातु से क्विप् प्रत्यय तथा लोप होने पर यह कृदन्त बना। तब कृत्तद्धित० से प्रातिपदिक संज्ञा होकर तृतीया विभक्ति का 'टा' प्रत्यय पर में संयुक्त करने पर 'दुह्+टा' बना। 'चुटू' से टकार का अनुबन्ध लोप होने पर तथा 'दुह्+आ' को 'अज्झीनं०' के नियम से संयुक्त करने पर 'दुहा' रूप सिद्ध हुआ।

धुग्भ्याम्—दुह् शब्द की क्विप् प्रत्ययान्त या कृदन्त होने से प्रातिपादिक संज्ञा 'कृत्तद्धित० से हो गयी। तब तृतीया चतुर्थी एवं पंचमी के द्वि वचनों में भ्याम् प्रत्यय प्रयुक्त होने पर दुह्+भ्याम् यह रूप बना। तत्पश्चात् 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र

---

१. **क्विप्**—क्विप् प्रत्यय कृदन्त या कृत्य प्रकरणम् में आता है जिसका सर्वापहार लोप हो जाता है। अर्थात् क्विप् प्रत्यय का किञ्चिन्मात्रांश भी शेष नहीं रहता जैसे दुह् शब्द में क्विप् प्रत्यय लगाने पर 'दुह्' मात्र ही शेष रहता है। इससे दुह् शब्द कृदन्त बन गया है। जिस प्रातिपदिक संज्ञा करने के लिए कृदन्त बनाना आवश्यक था।

द्वारा उसके हकार के स्थान पर घकार का आदेश होने पर 'दुघ्+भ्याम्' बना तब 'एकाचो वशो भष०' द्वारा भष् भाव से दकार के स्थान पर धकारादेश होने पर 'धुघ्भ्याम्' बना तदनन्तर झलांजशोऽन्ते से घकार को गकार होने पर व मिलकर ,धुग्भ्याम्' यह रूप सिद्ध हुआ।

धुक्षु—दुह्+सुप् अर्थात् कृदन्त, दुह् शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में सुप् प्रत्यय लगाया तथा पकार का अनुबन्ध लोप करके 'दुह्+सु' बना तब 'दादेर्धातोर्घः' से हकार होने पर एवं 'एकाचो वशो भष्॰' से भष् भाव होकर 'धुघ्+सु' रूप बना। तत्पश्चात् 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व करने पर 'धुग्+सु'। इस स्थिति में 'खरि च' सूत्र से गकार को चर्त्व ककारादेश एवं 'आदेश प्रत्यययोः' से सकार को षकार तथा क्+ष मिलकर क्ष होने पर 'धुक्षु' यह रूप सिद्ध हुआ।

४. **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्। ८।२।३३॥**

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट् ध्रुड्। द्रुहौ।

द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्। ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु: ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु॥ एवं मुक्, मुग् इत्यादि।

अर्थ—द्रुह, मुह्, ष्णुह और ष्णिह धातु के हकार के स्थान पर विकल्प से उस दशा में घकार का आदेश होता है जब पदान्त में झल् परे रहते हो।

(शब्द रूप सिद्धि)—

ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड्। 'द्रुह् > जिघांसायाम्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके यह कृदन्त शब्द बनता है। क्विप् प्रत्यय के सर्वापहार लोप होने पर तथा प्रातिपदिक संज्ञा करके प्रथमा विभक्ति के एक वचन में सु के आने पर उकार का अनुबन्ध लोप करके 'द्रुह्+स्' इस स्थिति में हल्ङ्याब्भ्य० से सकार का लोप तथा होढः, से हकार के स्थान पर ढकार के प्राप्त होने पर तथा उसका बाध करके 'दादेर्धातोर्घः' से हकार को घकार प्राप्त हुआ तत्पश्चात् उसका भी बाध करके 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' सूत्र द्वारा विकल्प से हकार' के स्थान पर घकार तथा एकाचो वशो भष्० इत्यादि से भष्भाव होने पर दकार को धकार होने पर 'ध्रुघ्' बना। तदनन्तर 'झलां जशो ऽन्ते से घकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक दशा में चर्त्व होने पर ध्रुक् एवं चर्त्व के अभाव में या जश्त्व के पक्ष में ध्रुग् ये दो रूप सिद्ध हुए हैं।

घत्व के अभाव पक्ष में 'होढः' इस सूत्र से ढकार तथा 'एकाचो वशो०' से भष् भाव होने पर एवं ढकार को जश्त्व हो गया तब 'ध्रुड्' एवं चर्त्व के पक्ष में ध्रुट् ये दोनों रूप सिद्ध हुए।

द्रुहौ तथा द्रुहः—ये दोनों रूप दुहौ एवं दुहः की शब्द रूप प्रक्रिया की भाँति ही बनेंगे। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम् द्रुह+भ्याम्' इस स्थिति में 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' से द्रुह् के हकार को विकल्प से घकारादेश होने पर 'द्रुघ्+भ्याम्' यह रूप बना तथा 'एकाचो वशो भष्॰' से भष्भाव अर्थात् दकार को धकार होने पर ध्रुघ्+भ्याम्' रूप बना तदनन्तर 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व करने पर घकार को

गकार हो गया तब 'ध्रुग्भ्याम्' यह रूप सिद्ध हुआ तथा षत्व के अभाव पक्ष में 'होढः' से हकार को ढकार एवं उसे जश्त्व करके डकार होने पर 'ध्रुड्भ्याम्' यह द्वितीय रूप सिद्ध हुआ।

ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। 'द्रुह+सुप्' इस स्थिति में पकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'दादेर्धातोर्घः' के द्वारा दादि धातु 'द्रुह' के हकार को घकारादेश होने पर 'द्रुघ्+सु' रूप बना। तत्पश्चात् 'एकाचो बशोभष्०' से भष् भाव या दकार को धकार आदेश एवं 'खरि च' से चर्त्व करके ध्रुक्+सु बना। तब आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार तथा क्+ष=क्ष होने पर 'ध्रुक्षु' यह रूप बना। घत्व के अभाव पक्ष में होढः' से हकार को ढकारादेश एवं 'एकाचो बशो भष्०' से भष् भाव तथा ढकार को जश्त्व करने पर 'डः सि धुट्' से धुडागम एवं उट् की निवृत्ति होकर 'ध्रुड्+ध्+सु' 'खरि च' से चर्त्व की अवस्था में धुडागम वाले धकार का तकार तथा पुनः चर्त्व करके डकार को टकार करके 'ध्रुट्त्सु' रूप सिद्ध हुआ।

धुट् के अभाव पक्ष में द्रुह् के हकारको 'होढः से ढकार एवं भष्भाव से 'ध्रुड्+सु'। तब जश्त्व से ढकार को डकार तथा उसे भी 'खरि च' से चर्त्व करके टकार की दशा में 'ध्रुट्सु' यह अन्य रूप सिद्ध हुआ। 'मुक्, मुग्।' मुह>मोहे धातु से क्विप् प्रत्यय लगाने पर उक्त कृदन्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होने के पश्चात् प्रथमा एक वचन में 'सु' प्रत्यय का विधान किया गया तब 'मुह+सु' बना उकार का अनुबन्ध लोप तथा 'वा द्रुहमुह०' इत्यादि से पदान्त में झल् (सकार) परे रहते मुह् के हकार को विकल्प से घकारादेश तथा 'खरि च' से चर्त्व की दशा में ककार एवं जश्त्व की दशा में गकार सहैव हल्ङ्यादि से सकार का लोप करके 'मुक्,[1] मुग्' ये रूप सिद्ध हुए।

५. धात्वादेः षः सः। ६। १। ६४॥

उपदेशे धातोरादेः षस्य सः स्यात्। स्नुक्,[2] स्नुग्, स्नुट् स्नुड्। एवं स्निक्,[3] स्निग्, स्निट्, स्निड्॥

विश्ववाट्,[4] विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहो॥ (शब्द रूप सिद्धिः)

---

१. मुक्—मुग्धः अर्थात् मुह् धातु मोहित या मूर्च्छित होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। कोषों में प्रदत्त मुग्धं सुन्दरमूढयोः' के द्वारा इसे सुन्दर, भोला तथा मूर्खादि अर्थों में भी प्रयोग किया जाता है।

२. स्नुक्—स्नुह>उद्गिरणे धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर उक्त शब्द निष्पन्न है। वमन या उल्टी करने वाले के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है। अर्थात् वमनकर्ता।

३. स्निक्—'स्निह>प्रीतौ' धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़कर 'स्नेही' के अर्थ में यह प्रयोग किया जाता है।

४. विश्ववाट्—विश्वं वहतीति विश्ववाट् (विश्ववाहकः) अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को वहन करके वाला।

स्नुट्, स्नुड्, स्नुक्, स्नुग् । ष्णुह>उद्गिरणे धातु से क्विप् प्रत्यय तथा उसका सर्वापहार लोप करके ष्णुह, कृदन्त शब्द बन गया । अतः कृदन्त होने से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा एक वचन में 'सु' आने पर हकार का लोप करके 'ष्णुह् + स्' इस स्थिति में 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार करने पर 'स्नुह + स' बना । तब हल्ङयाब्भ्य०' से सकार का लोप तथा 'वा द्रुहमुह०' इत्यादि से हकार के 'स्नुह + स्' बना । तब 'हल्ङ्याब्भ्य०' से सकार का लोप तथा 'वा द्रुहमुह०' इत्यादि से हकार के स्थान पर घकारादेश एवं उसके जश्त्व होने पर 'वाऽवसाने' से चर्त्वं विकल्प से करने पर 'स्नुक्' तथा चर्त्वं के अभाव में 'स्नुग्' रूप सिद्ध हुए ।

'वा द्रुह०' इत्यादि से विकल्प के अभाव में 'होढः' से हकार को ढकार एवं उसको जश्त्व करने पर तथा विकल्प से वाऽवसाने सूत्र से चर्त्वं की दशा में 'स्नुट्' तथा चर्त्वं के अभाव में 'स्नुड' ये रूप सिद्ध हुए । स्निक्, स्निग्, स्निट्, स्निड् । ष्णिह>प्रीतौ धातु से स्नेह करने के अर्थ में क्विप् प्रत्ययान्त होने से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी । तब प्रथमा एक वचन में सु विभक्ति का प्रयोग हुआ एवं अनुबन्ध उकार का लोप करके 'ष्णिह् + स्' रूप बना । तत्पश्चात् 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार होने पर 'स्निह् + स्' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि' से सकार लोप तथा 'वा द्रुहमुह०' इत्यादि से हकार को घकार तथा जश्त्व एवं वाऽवसाने' से चर्त्व करके 'स्निक्' और चर्त्वं के अभाव में स्निग् रूप सिद्ध हुए ।

इसी प्रकार घत्व के अभाव में होढः' सूत्र से ढकारे तथा उसे जश्त्व करके एवं विकल्प से चर्त्वं की स्थिति में 'स्निट्', स्निड्' ये रूप सिद्ध होते हैं ।

विश्ववाट्, विश्ववाड्—'विश्व को जो वहन करता है' इस अर्थ में 'भजो ण्विः'[1] से ण्वि का अनुवर्तन करने पर 'वहश्च' से 'ण्विः' आगम हुआ तथा णकार को इत् संज्ञा एवं 'वि' का भी लोप हो गया । तब विश्व + वह>प्रापणे धातु । + सु (उकार तथा 'हल्ङ'यादि) से सकार का लोप एवं 'अत उपधाया[2]' से वह् में आदि वृद्धि

---

१. भजोण्विः'—।३।२।६२ सूत्र में जो भज्>'सेवायां' धातु 'ण्वि' प्रत्यय का विधान उपसर्ग, अनुपसर्ग, सुबन्त तथा उपपद की दशा में हुआ है, उस 'ण्वि' प्रत्यय का ही वह>प्रापणे धातु के साथ अनुबर्तन हो जाता है क्योंकि अष्टाध्यायीकार ने 'वहश्च' सूत्र की क्रम संख्या ३।२।६४ अर्थात् उक्त सूत्र के पश्चात् ही रखी हैं । चूंकि अनुवर्तन पिछले सूत्र से उस पद का अध्याहार करने को कहते हैं जो पद प्रस्तुत सूत्र में अदृष्ट अर्थात् दिखालायी नहीं पड़ता । ण्वि प्रत्यय कृत्प्रकरण में आता है जिसका सर्वापहार लोप हो जाता है ।

२. अत उपधायाः—७।२।११६।। उपधा सम्बन्धी 'अत्' (ह्रस्व अकार) को वृद्धि उस स्थिति में होती है, जब जित्, णित् प्रत्यय परे रहते हों । यहाँ 'वह् + ण्वि' में 'वह्' को वकार में स्थित अकार उपधा है अतः उक्त सूत्र से उसे वृद्धि होकर 'वाह्' रूप बना तथा 'ण्वि' का अशेषांश लुप्त हो गया है ।

करके 'विश्ववाह' रूप बना। तत्पश्चात् होढः से हकार को ढकार तथा जश्त्व से डकार एवं वाऽवसाने से 'चर्त्व' विकल्प से करने पर विश्ववाट् व चर्त्व के अभाव में विश्ववाड् रूप सिद्ध हुए।

विश्ववाहौ—विश्ववाह् + औ (प्रथमा के द्विवचन में) प्रत्यय विधान होकर 'अज्झीनं०' के सन्धि नियम से जोड़कर 'विश्ववाहौ' रूप सिद्ध हुआ।

विश्ववाहः—विश्ववाह् + जस् (प्रथमा के बहुवचन में) प्रत्यय के आने पर 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप करके 'विश्ववाह् + अस्' बना। सकार को रुत्व-विसर्ग होकर तथा 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' से हल् स्वर संयुक्त होने पर 'विश्ववाहः' रूप सिद्ध हुआ।

विश्ववाहम्—विश्ववाह् + अम् (द्वितीया विभक्ति के एक वचन में) प्रत्यय आने पर तथा 'अज्झीनं०' से परस्पर स्वरहीन वर्ण को स्वर से मिलाने पर 'विश्ववाहम्' रूप सिद्ध हुआ।

विश्ववाहौ—विश्ववाह् + औट् (द्वि० वि० के द्वि० व० में) प्रत्यय का विधान होने पर ट् की इत्संज्ञा एवं लोप तथा 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाकर 'विश्ववाहौ' रूप सिद्ध हुआ।

(सम्प्रसारण संज्ञा सूत्रम्)

६. **इग्यणः संप्रसारणम्। १। १। ४५॥**

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात्॥

अर्थ—यण् अर्थात् य्, व्, र्, ल् के स्थान में प्रयोग किये गये इक् (इ, उ, ऋ, लृ) की संप्रसारण संज्ञा होती है।

७. **वाह ऊठ्। ६। ४। १३२॥**

भस्य वाहः संप्रसारणम् ऊठ्॥

अर्थ—भसंज्ञक[1] 'वाह्' को संप्रसारण संज्ञक 'ऊठ्' आदेश हो जाता है।

८. **संप्रसारणाच्च। ६। १। १०८॥**

सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः। एत्येधत्यूठ्स्विति वृद्धिः[2]। विश्वौहः, इत्यादि।

---

१. भसंज्ञा—'यचिभम्' भसंज्ञा सूत्र है जिसका अभिप्राय है कि यदि 'कप्' प्रत्ययावधि प्रत्यय और अजादि जो स्वादि असर्वनाम स्थान उनके परे रहने पर उससे पूर्व की भसंज्ञा होती है।

२. 'एत्येधत्यूठ्सु—यह अच् सन्धि प्रकरण का सूत्र है। इससे वृद्धि एकादेश का विधान होता है जिसका भाव यह है कि 'अवर्ण से परे एजादिः 'इण्' धातु व 'एध' धातु जहाँ पर में अर्थात् बाद में हों तो इसी प्रकार अवर्ण से परे जहाँ 'ऊठ्' पर में हो वहाँ पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

अर्थ—सम्प्रसारण से 'अच्' (स्वर) पर में रहने से पूर्व पर के स्थान में पूर्व रूप एकादेश हो जाता है।

(शब्द रूप सिद्धिः)

विश्वौहः[1]—विश्ववाह् + शस् (द्वितीया विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय) का विधान हुआ। तब 'लशक्वतद्धिते' से शकार का लोप करने पर विश्ववाह् + अस्' बना 'यचिभम्' से वाह् की भसंज्ञा होने पर वाह ऊठ्' सूत्र से उसे संप्रसारणसंज्ञक ऊठ् आदेश हो गया। इस प्रकार सम्प्रसारण के प्राप्त होने पर 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से व रूप यण् के स्थान पर उकार रूप सम्प्रसारण करने पर 'विश्व + ऊ + अस्' यह बना। तत्पश्चात् 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से सम्प्रसारण से परे 'अच्' रहने से पूर्व पर के स्थान पर पूर्व रूप एकादेश हो जाने पर 'विश्व + ऊह् + अस्' यह शेष रहा। तब 'एत्येधत्यूठ्सु' से पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि होने पर एवं सकार को रुत्व विसर्ग करके तथा परस्पर संयुक्त कर 'विश्वौहः' रूप सिद्ध हुआ।

(आमागम विधिसूत्रम्)

९. चतुरनडुहोरामुदात्तः । ७ । १ । ९८ ॥

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे ॥

अर्थ—'चतुर्' और 'अनडुह' शब्द को आम् का आगम तब होता है जब 'सु' प्रत्यय परे रहता है। अर्थात् प्रथमा विभक्ति के एक वचन में आने वाला सु प्रत्यय परे रहने पर 'चतुर्' तथा अनडुह शब्दों को 'आम्' का आगम हो जाता है।

१०. सावनडुहः । ७ । १ । ८२ ॥

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्[2] ॥

अर्थ—अनडुह् शब्द को 'सु' के परे रहने पर 'नुम्' का आगम हो जाता है।

(शब्द रूप सिद्धि)

अनड्वान्—अनडुह् + सु' इस स्थिति में 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यादि सूत्र से 'आम्' का आगम प्राप्त हुआ। वह आगम कहाँ हो? इस शंका के समाधानार्थ 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के द्वारा उक्त 'आम्' आगम 'मित्' होने से अन्तिम अच् अर्थात् अनडुह् के उकार के उत्तरवर्ती या उकार से परे हुआ। अतः 'अनडु आम् ह् सु' ऐसा बनने पर मकार की इत्संज्ञा और लोप होकर 'अनडु आह् सु' यह रूप बनने के बाद 'सावनडुहः' से नुम् का आगम एवं उम् का अनुबन्ध लोप होकर 'अनडु + आ + न् + ह् + सु' इस स्थिति में सु के उकार का लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार

---

१. इसी प्रकार प्रष्ठवाह् तथा भारवाह् शब्द जानने चाहिए। विश्वौहः' का भी विश्व वाहक ही अर्थ है।

२. 'अनड्वान्'—इस शब्द का अर्थ शकटवाह् अर्थात् गाड़ी ढोने वाला या वृषभ होता है।

का लोप होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोग संज्ञक अन्तिम हकार का लोप होने पर 'अनड्+आ+न्' यह बना। तत्पश्चात् नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्[1]' से संयोगान्त के लोप का असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं हुआ। तब 'इकोयणचि' से डकार उत्तरवर्ती उकार के स्थान पर यण् अर्थात् वकार होने पर तथा परस्पर मिलकर 'अनड्वान्' यह रूप सिद्ध हुआ।

११. अम् सम्बुद्धौ। ७।१।९९॥

चतुरनडुहोरम् स्यात् सम्बुद्धौ परे॥

अर्थ—चतुर् और अनडुह् शब्द को 'अम्' का आगम सम्बुद्धि के परे रहने पर हो जाता है। अर्थात् जब सम्बोधन बाद में रहे तो उक्त शब्दों को अम्' का आगम हो जाता है।

'हे अनड्वन्'—'हे अनडुह्+सु' इस स्थिति में 'अम् सम्बुद्धौ' से अम्' के आने पर इसके मित् होने से अन्तिम 'अच्' से परे लगाने पर तथा भ् की इत्संज्ञा व लोप करके 'सावनडुहः' से नुम् का आगम इसके मित् होने से अन्तिम 'अच्' के परे होने पर उम् की इत्संज्ञा व लोप करके 'अनड्+अ+न्ह्+सु' यह रूप बना। तत्पश्चात् सु के उकार के लोप होने पर सकार का 'हल्ङ्या०' से लोप होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' से हकार का लोप एवं यण् सन्धि के नियम से उकार को वकार होने पर 'हे अनड्वन्'। यह रूप सिद्ध हुआ।

'हे अनड्वाहौ—'अनडुह्+औ' इस स्थिति में 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' से आम् का आगम तथा लोप होने पर 'अनडुआ ह्+औ; मित् होने से आगम अन्तिम अच् (उकार) से परे ही हुआ एवं 'इकोयणचि' से उकार के स्थार पर यण् (वकार) होने पर तथा परस्पर हल् स्वर संयुक्त करके 'हे अनड्वाहौ' यह रूप सिद्ध हो गया।

हे अनड्वाहः—'अनडुह+जस्'। जकार का अनुबन्ध लोप करके 'अनडुह्+अस्' बना। अनडुह+अस् इस स्थिति में 'चतुरनडुहोरामुदात्तः से 'आम्' का आगम होने पर 'अनडु+आ+ह्+अस्' रूप बना। 'इको यणचि' से उकार को

---

१. पूर्वत्रासिद्धम्—सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी असिद्ध हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य—८।२।७॥ सूत्र त्रिपादी के ही अन्तर्गत है अतः संयोगान्तस्य लोपः से यहाँ नकार का लोप नहीं हुआ है क्योंकि यहाँ लोप नियम असिद्ध है। पूर्वत्रासिद्धम्—८।२।१॥ सूत्र त्रिपादी (अष्टाध्यायी के अन्तिम तीन पाद) का प्रथम सूत्र है। इससे यह सूचना प्राप्त होती है कि इसके बाद के या परवर्ती सभी सूत्र पूर्ववर्ती सूत्रों के लिए असिद्ध हैं तथा परवर्ती सूत्रों के लिये पूर्ववर्ती असिद्ध है। चूँकि नुमागम सपादसप्ताध्यायी के सूत्र 'सावनडुह—७।१।८२॥ के द्वारा हुआ है अतः इसके 'न्' का लोप नहीं होगा।

वकार होने पर 'अनड् व आह् + अस्' सकार को रुत्वविसर्ग करके तथा परस्पर मिलकर 'हे अनड्वाहः' रूप सिद्ध हुआ।

अनडुहः—'अनडुह् + शस्' इस स्थिति में 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके 'अनडुह् + अस्' यह रूप बना। 'अज्झीनं०' इत्यादि सन्धि नियम से हल् स्वर संयुक्त करने पर 'अनडुहस्' रूप बना। तब 'खरवसानयोः-विसर्जनीयः' सूत्र से सकार को रुत्वविसर्ग करने पर 'अनडुहः' यह रूप सिद्ध हुआ।

अनडुहा—'अनडुह् + टा' इस स्थिति में तृतीया विभक्ति के एकवचन के प्रत्यय 'टा' के टकार का 'चुटू' से अनुबन्ध लोप करने पर 'अनडुह् + आ' रूप बना। 'अज्झीनं०- के नियम से परस्पर मिलाने पर 'अनडुहा- यह रूप सिद्ध हुआ।

१२. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः—८।२।७२॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते। अनडुद्भ्यामित्यादि॥

अर्थ—सान्त जो वस्वन्त और स्रंसादि (स्रंस्—,ध्वंस्—अनडुह्) को दकार आदेश हो जाता है, पदान्त में। अर्थात् पद प्रक्रिया की अन्तिम स्थिति में या पद बनने में जब अन्तिम प्रत्यय परे रहते हो तब उक्त शब्दों के अन्तिम हल् के स्थान पर दकार आदेश हो जाता है।

अनडुद्भ्याम्—'अनडुह् + भ्याम्' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से उक्त शब्द की पद संज्ञा होने पर 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' से हकार के स्थान पर दकारादेश होने पर तथा परस्पर 'अज्झीनं०' से मिलाने पर अनडुद्भ्याम् रूप सिद्ध हुआ।

सान्तेति[1] किम्? विद्वान्। पदान्ते[2] किम्? स्रस्तम्। ध्वस्तम्।

१३. सहेः साडः सः—८।३।५६॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः। तुराषाट्, तुराषाड्[3]। तुरासहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्यामित्यादि॥

---

१. सान्त अर्थात् सकार है अन्त में जिसके ऐसे सान्त शब्द के अभाव में वस्वन्त शब्द के होने पर भी दकार का आदेश नहीं होता जैसे 'विद्वान पद वस्वन्त है किन्तु सान्त नहीं है अतः यहाँ दकारादेश नहीं हुआ।

२. 'पदान्ते' अर्थात् 'सुप्तिङन्तम्' सूत्र से जिस किसी शब्द की पद संज्ञा होती है या जिसके अन्त में सुप् या तिप् आदि प्रत्यय लगें उसकी पद संज्ञा होती है उससे भिन्न की नहीं। अतः उक्त पदसंज्ञा के अन्तर्गत आने वाले शब्द के अन्त में जो अन्तिम हल हो, उसे दकार आदेश होता है उससे भिन्न को नहीं। जैसे स्रस्तम्, ध्वस्तम्-नष्टम् आदि जब तक पदसंज्ञा में नहीं आते अस्तु तब तक उनमें उक्त नियम का विधान नहीं होगा।

३. सङ्क्रन्दनो दुश्च्यवनस्तुराषाण्मेघवाहनः (इत्यमरः) अर्थात् तुराषाड्-इन्द्र का पर्यायवाची हैं।

अर्थ—साड् रूप (बनजाने पर) सह् के सकार के स्थान में मूर्धन्यषकार आदेश हो जाता है।

तुराषाट्, तुराषाड्—'तुरासाह् + सु' इस स्थिति में उकार को इत्संज्ञा एवं लोप करके 'तुरासाह् + स्' रूप बना। तत्पश्चात् 'हल्ङ्यादि से सकार का लोप होने पर 'होढः' से हकार को ढकारादेश हो गया एवं उसके पदान्त होने से ढकार को जश्त्व अथवा डकार होने पर ,तुरासाड्' इस स्थिति में 'सहेः साडः सः' के द्वारा साड् रूप सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार करने पर 'तुराषाड्'। तब 'वाऽवसाने' से चर्त्व की स्थिति में विकल्प से डकार को टकार एवं चर्त्वाभाव पक्ष में डकार करके 'तुराषाट्, तुराषाड्' ये दोनों रूप सिद्ध हुए।

तुरासाहौ—'तुरासाह् + औ' इस स्थिति में तुरासाह शब्द के अपदान्त होने से उसके सकार को मूर्धन्य षकार नहीं होता। अतः 'अज्झीनं०' के नियम से परस्पर हल् स्वर संयुक्त करके 'तुरासाहौ' रूप सिद्ध हुआ।

तुराषाहः—'तुरासाह् + जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा तथा उसका लोप होने पर 'तुरासाह् + अस्' यह रूप बना। तब अज्झीनं० से परस्पर संयुक्त करके एवं सकार को रुत्व विसर्ग करने पर 'तुराषाहः' रूप सिद्ध हुआ।

तुराषाड्भ्याम्—'तुरासाह् + भ्याम्' इस स्थिति में होढः' से हकार को ढकार का आदेश करने पर तुरासाढ् + भ्याम्' बना। तब अपदान्त जश्त्व के सन्धि नियम से 'झलांजश् झशि' सूत्र द्वारा ढकार को ड्कार करने पर 'तुरासाड्भ्याम्' इसके पदान्त होने से 'सहेः साडः सः' के द्वारा साड् रूप सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार होने पर 'तुराषाड्भ्याम्' यह रूप सिद्ध हुआ।

१८. दिव औत्—७।१।८४॥

दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ। सुद्यौः। सुदिवौ॥

अर्थ—'दिव्' प्रातिपदिक को औत् आदेश होता है जब उसके परे 'सु' रहता हो।

सुद्यौः—'सुदिव् + सु' इस स्थिति में 'दिव् औत्' सूत्र के द्वारा दिव् के वकार के स्थान पर 'औ' आदेश होने पर 'सु दि औ + सु' यह बना। तत्पश्चात् 'इको यणचि' सूत्र द्वारा 'दि' इकार को यण् (यकार) करने पर 'सु द्य् औ' सु तब सु के उकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके सकार के रुत्व विसर्ग होने पर तथा परस्पर मिलाकर 'सुद्यौः' यह रूप सिद्ध हुआ।

सुदिवौ—'सुदिव् + औ' इस स्थिति में प्रथमा विभक्ति के द्विवचन के 'औ' प्रत्यय के परे रहने पर एवं पर में सु प्रत्यय का अभाव होने पर दिव् के वकार को 'औत्' का आदेश नहीं हुआ। अतः अज्झीनं०' के नियम से हल् स्वर संयुक्त करने पर 'सुदिवौ' यह रूप सिद्ध हुआ।

१५. दिव उत्[1] ६ । १ । १३१ ॥

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते । सुद्युभ्यामित्यादि । चत्वारः, चतुरः, चतुर्भिः चतुर्भ्यः ॥

अर्थ — दिव् प्रतिपादिक को उकारान्त आदेश देता है, पदान्त में । सुद्युभ्याम् 'सुदिव+भ्याम्' इस स्थिति में दिव् उत्' के द्वारा दिव के वकार के स्थान पर उकार आदेश होने पर 'सुदि+उ+भ्याम्' यह रूप बना । तदनन्तर 'इकोयणचि' से यण् करके एवं परस्पर मिलकर सुद्युभ्याम् यह रूप सिद्ध हुआ ।

चत्वारः—'चतुर्+जस्' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य[2]' सूत्र से उक्त शब्द की सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इस सूत्र से 'आम्' का आगम तथा मकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर इससे मित् होने से अन्तिम अच् से परे प्रत्यागाम हुआ तब 'चतु आ र्+जस्' यह बना । 'इको यणचि' से उकार के स्थान पर वकार (यण्) करने पर—'चत्व् व् आ र्+जस्' रूप बना 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा करने पर तथा सकार को रुत्व एवं रुत्व को विसर्ग करके एवं मिलाकर '**चत्वारः**' यह रूप सिद्ध हुआ ।

चतुरः—'चतुर्+शस्' 'शस' आदि परे रहने पर सर्वनामस्थानत्व के अभाव के कारण यहाँ चतुर् शब्द को 'आम्' का आगम नहीं होता । अतः उक्त स्थिति में 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'चतुर्+अस्' यह रूप बना । सकार को रुत्व विसर्ग करके एवं 'अज्झीनं०' से हल् स्वर को परस्पर मिलाने पर 'चतुरः' यह रूप निष्पन्न हुआ ।

चतुर्भिः—'चतुर्+भिस्' इस स्थिति में सर्वनाम स्थान संज्ञा का अभाव होने से 'आम्' के आगम का निषेध हो जाने पर तथा सकार रुत्व एवं रुत्व को विसर्ग करके और 'अज्झीनं०' से परस्पर संयुक्त करने पर '**चतुर्भिः**' यह रूप सिद्ध हुआ ।

चतुर्भ्यः—'चतुर्+भ्यस्' इस स्थिति में प्रातिपदिक चतुर् शब्द से चतुर्थी तथा पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस् प्रत्यय लगाने पर सकार को '**खरवसानयो-**

---

१. सूत्र में तकार का प्रयोग केवल उच्चारणार्थ किया गया है । उच्चारणार्थ प्रयुक्त वर्णों को इत्संज्ञा तथा लोप के बिना ही निवृत्ति हो जाती है अर्थात् एतदर्थ किसी सूत्रादि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती । जैसे—दिव औत् तथा दिव उत् सूत्रों में तकार उच्चारणार्थ ही है ।

२. सुट् अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पाँच प्रत्ययों की नपुंसक के अभाव में सर्वनाम स्थान संज्ञा होती है । उक्त सूत्र सर्वनाम स्थान संज्ञा के लिए प्रयुक्त होता है तथा इसमें सुट् प्रत्याहार सन्निहित पाँच प्रत्ययों का बोधक है ।

विसर्जनीयः' से रुत्व एवं विसर्ग होने पर तथा 'अज्झीनं० परेण संयोज्यम्' से परस्पर मिलकर 'चतुर्भ्यः' रूप सिद्ध हुआ।

(नुडागमसूत्र)

१६. **षट्चतुर्भ्यश्च—७।१।५५॥**

एभ्य आमो नुडागमः॥

अर्थ—षट् संज्ञक और चतुर् शब्द से पर में (बाद में) आम् को नुट् का आगम हो जाता है।

(णकार विधि सूत्र)

१७. **रषाभ्यां नो णः समानपदे—८।४।१॥**

रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यादेकपदे।

अर्थ—रेफ और षकार से परे नकार को णत्व (णकार) हो, समान पद में।

१८. **अचो रहाभ्यां द्वे—८।४।४६॥**

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्॥

अर्थ—अच् से परे जो रेफ तथा हकार और उससे परे जो 'यर्' हो तो उसे विकल्प से द्वित्व हो जाता है।

चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्—'चतुर्+आम्' इस स्थिति में 'षट् चतुर्भ्यश्च' सूत्र से आम् (षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय) को नुडागम (नुट् प्रत्यय का आगम) हो जाने पर एवं उट् की इत्संज्ञा तथा लोप करके 'चतुर्+न्+आम्' यह बना। तब 'रषाभ्यां नोणः समानपदे' सूत्र से नकार को णकार होने पर एवं 'अचो रहाभ्यां द्वे' से णकार को द्वित्व करने पर 'चतुर्ण्णाम्' यह रूप और द्वित्व की वैकल्पिक स्थिति में अर्थात् द्वित्वभाव में अन्य 'चतुर्णाम्' रूप सिद्ध हुआ।

१९. **रोः सुपि—८।३।१६॥**

रोरेव विसर्गः सुपि। षत्वम्[१]। षस्य द्वित्वे प्राप्ते[२]॥

अर्थ—सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति के परे रु सम्बन्धी रेफ के स्थान में ही विसर्ग हो अन्य रेफ को विसर्ग नहीं होना चाहिए।

२०. **शरोऽचि—८।४।४९॥**

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

---

१. षत्वमिति—'चतुर्' प्रातिपादिक से परे सुप् विभक्ति के सकार को 'आदेश-प्रत्यययोः' सूत्र से षकार हो जाता है क्योंकि यह प्रत्ययावयव सकार है अतः उसे मूर्धन्य षकार आदेश हो जाता है।

२. षस्य द्वित्व इति—'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र द्वारा यहाँ षकार को द्वित्व प्राप्त हुआ किन्तु शर् के परे 'अच्' होने पर द्वित्व का निषेध आगे के सूत्र 'शरोऽचि' द्वारा हो जाता है।

अर्थ—अच् (स्वर) के परे 'शर्' प्रत्याहार में आने वाले वर्णों को द्वित्व नहीं होवे।

चतुर्षु—'चतुर्+सुप्' इस स्थिति में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र द्वारा र्कार को विसर्गत्व प्राप्त होने पर 'रोः सुपि' सूत्र द्वारा इसके निषेध होने पर 'चतुर्+सुप्' यही रूप रहा। तब 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा सकार को षकारादेश होने पर 'अचो रहाभ्यां द्वे' से षकार को द्वित्व प्राप्त हुआ किन्तु 'शरोऽचि' सूत्र द्वारा षकार के द्वित्व का निषेध हो जाने पर तथा पकार की इत्संज्ञा एवं लोप करने पर 'चतुर्षु' यह रूप सिद्ध हुआ।

(नकार विधि सूत्र)

२१. मोनो धातोः—८।२।६४॥

धातोर्मस्य नः पदान्ते। प्रशान्[1]।

अर्थ—मान्त धातु के मकार को नकार आदेश हो, पदान्त में।

प्रशान्—'प्रशाम्+सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो॰' इत्यादि से सकार के भी लोप हो जाने पर 'प्रशाम्' बना। तब 'सुप्तिङन्तं पदं' से इसकी पद संज्ञा होने पर 'मोनो धातोः' से म को नकार होने पर 'प्रशान्' यह रूप सिद्ध हुआ।

२२. किमः कः—७।२।१०३।

किमः कः स्यादिविभक्तौ। कः। कौ। के। इत्यादि। शेषं सर्ववत्।

अर्थ—किम् के स्थान में 'क' आदेश हो विभक्ति के परे।

कः—'किम्+सु' इस स्थिति में 'किमः कः' सूत्र के द्वारा किम् के स्थान पर 'क' का आदेश हो गया तब 'क+सु' यह रूप बना। तत्पश्चात् उकार की इत्संज्ञा एवं लोप करने पर 'क+स्' रूप बना। तब सकार को रुत्व तथा विसर्ग होने पर 'कः' यह रूप सिद्ध हुआ।

कौ—'किम्+औ' इस स्थिति में 'किमः कः' से किम् के स्थान पर ककारादेश होने पर 'क+औ' यह बना। तदनन्तर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होने पर 'कौ' रूप सिद्ध हुआ।

के—'किम्+जस्' इस स्थिति में 'किमः कः' सूत्र द्वारा किम् के स्थान पर कादेश होने पर 'क+जस्'। तब 'जसः शी' सूत्र द्वारा 'जस्' के स्थान पर 'शी' का आदेश हो गया। 'लशक्वतद्धिते[2]' से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर 'क+ई'

---

१. नत्व (हलन्त नकार) को 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध होने के कारण लोप नहीं होता।

२. लशक्वतद्धिते—तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि लकार, शकार, और कवर्ग की इत्संज्ञा हो जाती है तथा 'तस्य लोपः' से इस शक वर्णों का लोप हो जाता है।

यह बना। 'आद् गुणः' से अकार तथा ईकार के स्थान पर गुण एकारादेश होने पर 'के' यह रूप सिद्ध हुआ।

(मकार विधि सूत्र)

२३. **'इदमो मः'—७।२।१०८॥**

इदमो मस्य मः स्यात्सौ परे। त्यदाद्यत्वापवादः॥

अर्थ—'इदम्' शब्द सम्बन्धी मकार के स्थान में मकार ही आदेश हो, सु परे रहते।

२४. **इदोऽय् पुंसि—७।२।१११॥**

इदम् इदोऽय् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे॥

अर्थ—'इदम्' सम्बन्धी 'इद्' के स्थान में 'अय्' आदेश हो 'सु' के परे पुल्लिङ्ग में।

अयम्—'इदम्+सु' इस स्थिति में उकार की इत्संज्ञा तथा लोप होकर 'इदम्+स्' यह बना। 'त्यदादीनामः'[1], के द्वारा अकार के प्राप्त होने पर उसको वाधित करके 'इदमो मः' इत्यादि के द्वारा अपवादभूत 'इदम्' के मकार को मकार ही रहने पर 'इदोऽय् पुंसि' सूत्र से पुल्लिङ्ग की दशा में 'इद्' अंश को 'अय्' आदेश हो जाने पर यकार का अकार के साथ संयोग करने पर सकार को 'हल्ङ्याब्भ्यः' से लोप होने पर 'अय् अम्' बना तब परस्पर मिलाने पर 'अयम्' यह सर्वनाम शब्द सिद्ध हुआ।

(पररूपविधि सूत्रम्)

२५. **अतो गुणे—६।१।९७॥**

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः स्यात्।

अर्थ—अपदान्त 'अत्' (ह्रस्व अकार) से परे गुण (अ, ए, ओ) के परे पूर्व पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है।

दकार से मकार विधि सूत्र)

२६. **दश्च—७।२।१०९॥**

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः॥

अर्थ—'इदम्' शब्द सम्बन्धी दकार के स्थान में मकार आदेश उस स्थिति में हो जब उससे परे 'सु' से भिन्न विभक्ति हो।

---

१. त्यदादि को अकारान्तादेश हो, विभक्ति के परे। अर्थात् सर्वनाम शब्दों को अकार जिसके अन्त में हो ऐसा आदेश विभक्ति के परे रहने पर हो जाता है। 'इदमो मः' सूत्र 'त्यदादीनामः' का अपवाद सूत्र है क्योंकि 'त्यदादीनामः' से जो अकार प्राप्त होता है उसे बाधित कर 'इदमो मः' से उसको मकार को मकार का विधान होता है।

इमौ—'इदम्+औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से मकार के स्थान पर अकार करने पर 'इद अ औ' यह रूप बना। तत्पश्चात् 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश करने पर 'इद औ' ऐसा होने पर 'दश्च' इस सूत्र के द्वारा दकार के स्थान पर मकार का आदेश एवं वृद्धि करने पर 'इमौ' यह रूप सिद्ध हुआ।

'इमे'—'इदम्+जस्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र के द्वारा मकार के स्थान पर अकार का आदेश करने पर 'इद अ जस्' यह बना। तब 'अतो गुणो' से पररूप एकादेश करके 'जसः शी' से जस् के स्थान पर 'शी' का आदेश तथा शकार की 'लशक्व०' इत्यादि से इत्संज्ञा एवं लोप करने पर 'इद+ई' रूप बना। तत्पश्चात् 'दश्च' सूत्र से दकार के स्थान पर मकारादेश तथा 'आद्गुणः' से गुण करके 'इमे' यह रूप निष्पन्न हुआ।

विशेष—त्यदादि (सर्वनाम शब्दों) के सम्बोधन रूप नहीं होते हैं।

(अन् विधि सूत्रम्)

२७ **अनाप्यकः—७।२।११२॥**

अककारस्येदम् इदोऽनापि विभक्तौ। आबिति[1] प्रत्याहारः। अनेन॥

अर्थ—ककार रहित जो 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' उसको 'अन्' आदेश उस स्थिति में हो, जब आप् (तृतीयादि) विभक्ति उसके परे रहते हो।

अनेन—इदम्+टा 'आ' टकार को इत्संज्ञा एवं लोप करने पर 'इदम्+आ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः, से अकार का 'म्' के स्थान पर अन्तादेश एवं 'अतोगुणे' से पररूप एकादेश करके 'इद+आ' यह बनने पर 'अनाप्यकः' से इद् के स्थान पर 'अन्' आदेश करके 'अन्+आ' यह बना। तब 'टाङसिङसामिनात्स्याः' के द्वारा 'टा' अथवा 'आ' के स्थान पर 'इन' आदेश होने पर 'आद्गुणः' से गुण एकार करके 'अनेन' यह रूप निष्पन्न हुआ।

(इद् लोप सूत्र)

२८. **हलि लोपः—७।२।११३॥**

अककारस्येदम् इदो लोप आपि हलादौ। नानर्थके[2] ऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यास विकारे॥

---

१. आप् (टा) तृतीया विभक्ति के आकार से लेकर सुप् के पकार पर्यन्त 'आप्' यह प्रत्याहार जानना चाहिए।

२. अभ्यास विकार को छोड़कर अनर्थक में 'अलोऽन्त्य' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र का अर्थ है कि षष्ठेनिर्दिष्ट या षष्ठी के निर्देश से विधीयमान जो कार्य वह अन्त्य अल् (स्वर अथवा व्यञ्जन अर्थात् कोई वर्ण) के स्थान में हो अर्थात् षष्ठयन्त का निर्देश कर जहाँ (जिस उदाहरण में) आदेश का विधान किया गया हो वहाँ अन्त्यवर्ण को आदेश हो।

अर्थ—ककार रहित 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' का लोप तब हो जाता है जब हलादि आप् (तृतीयादि) विभक्ति परे रहती है।

(आद्यन्तवद्भाव सूत्र)

२९. **आद्यन्तवदेकस्मिन्**—१।१।२१॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। सुपि चेति दीर्घः। आभ्याम्॥

अर्थ—एकस्मिन् अर्थात् असहाय में क्रियमाण जो कार्य वह आदि तथा अन्त की तरह होना चाहिए।

विशेष—तदादि और तदन्त को क्रियमाण जो कार्य वह तदादि और तदन्त की तरह सहायक (एक) को भी हो। (यथा—देवदत्तस्यैक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः स एव मध्यमः।) अर्थात् देवदत्त का एक ही पुत्र है, वही ज्येष्ठ है, वही कनिष्ठ है और वही मध्यम है मकार के स्थान पर।

आभ्याम्—'इदम्+भ्याम्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र के द्वारा अकार अन्तादेश होने पर 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हो गया। तब 'इद+भ्याम्' ऐसा होने पर 'हलिलोपः' सूत्र से इद्भाग का लोप प्राप्त होने पर 'अलोऽन्त्यस्य-सूत्र के द्वारा भी अन्त्य का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधि-रनभ्यास विकारे' इस परिभाषा से अलोन्त्यविधि का अभाव होने पर इद्भाग का ही लोप हो गया। तब 'अ+भ्याम्' यह शेष रहा तत्पश्चात् 'सुपिच' सूत्र से दीर्घ प्राप्त हुआ किन्तु यहाँ विद्यमान अकार को अदन्तत्व है अथवा नहीं ऐसी शंका करने पर 'अद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र के द्वारा एक ही अकार के रहने पर अन्तवद् भाव होने ने अदन्तत्व मानकर अकार को दीर्घ अथवा 'आ' कार हो गया तब 'अभ्याम्' यह रूप निष्पन्न हुआ।

३०. **नेदमदसोरकोः**—७।१।११

अककारयोः इदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। अनयोः। एषु॥

अर्थ—ककार रहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्द सम्बन्धी भिस् को ऐस् नहीं होता है।

एभिः—'इदम्+भिस्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र के द्वारा मकार के स्थान पर अकार अन्तादेश होने पर 'अतो गुणे' पररूप एकादेश हो गया तब 'इद अ+भिस्' बनने पर 'हलि लोपः' सूत्र से इद्भाग का लोप होने पर 'अतो भिस् ऐस्' सूत्र के द्वारा ऐस् के प्राप्त होने पर 'नेदमदसोरकोः' इत्यादि से इसके विधान का निषेध करके 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र के द्वारा अदन्त अंग के स्थान पर एत्व होने पर एवम् सकार को रुत्व विसर्ग होने पर 'एभिः' यह रूप सिद्ध हुआ।

अस्मै—'इदम्+ङे' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से मकार के स्थान पर अकार अन्तादेश होने पर 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हो गया। तब 'इद अ+ङे'

यह शेष रहा। तत्पश्चात् 'सर्वनाम्नः स्मै' सूत्र के द्वारा सर्वनाम की दशा में 'ङे' विभक्ति के स्थान पर 'स्मै' आदेश हो जाता है। अतः 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश होकर 'अस्मै' यह रूप सिद्ध हुआ।

एभ्यः—'इदम्+भ्यस्' इस स्थिति में त्यदादीनाम: से मकार को अकार अन्तादेश 'अतो गुणे' से पररूप, एवं 'हलि लोपः' से इद्भाग का लोप होकर 'अ+भ्यस्' बना। 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र के द्वारा अदन्त अंग पर एत्व होने पर तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'एभ्यः' यह रूप सिद्ध हुआ।

अस्मात्—'इदम्+ङसि' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से मकार को अकार आदेश 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'हलि लोपः' से इद्भाग का लोप होकर अ+ङसि' यह बना। तत्पश्चात् 'ङसिङ्योः स्मा स्मिनौ' सूत्र से 'ङसि' (पंञ्चमी विभक्ति) के स्थान पर 'स्मात्' आदेश होने पर 'अस्मात्' रूप निष्पन्न हुआ।

अस्य—'इदम्+ङस्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र से मकार के स्थान पर अकार अन्तादेश, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश, एवं 'हलि लोपः' से इद्भाग का लोप तथा 'टाङसिङसामिनात्स्याः' सूत्र के द्वारा ङस् के स्थान पर 'स्य' का आदेश होने पर 'अस्य' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

अनयोः—'इदम्+ओस्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से अकार अन्तादेश होने पर 'अतो गुणे' से परस्पर एकादेक हो गया तब 'इद् अ+ओस्' बना। तत्पश्चात् 'अनाप्यकः' सूत्र से अनघटक नकार के उत्तरवर्ती अकार को एकार होने पर 'एचोऽयवायावः' से अयादेश होकर 'अनम्+ओस्' बना। सकार को रुत्व को विसर्ग होकर 'अनयोः' यह रूप सिद्ध हुआ।

एषाम्—'इदम्+आम्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से म् के स्थान पर अकार अन्तादेश होकर 'इद अ+आम् यह बना। तब 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर 'इद अ+आम्' यह रूप बना। 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से आम् विभक्ति के परे रहने पर सर्वनाम शब्द को सुट् का आगम होने पर उट् का अनुबन्ध लोप करके 'इद अ+साम्' बना। तब इद्भाग का हलि लोपः' सूत्र से लोप होकर 'असाम्' यह रूप बनने पर 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' से असहाय अकार को सत्ता रहने पर ह्रस्व अकारत्व के आद्यन्त होने पर 'बहुवचने झल्येत्' से अकार को एत्व होने पर ए+साम्' रूप बना। 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से सकार को षत्व होने पर 'एषाम्' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

अस्मिन्—'इदम्+ङि' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से मकार के स्थान पर अकार अन्तादेश 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश एवं 'हलि लोपः' से इद्भाग का लोप होकर 'अ+ङि' बना। तत्पश्चात् 'ङसिङ्योस्मात्स्मिनौ' सूत्र से ङिः विभक्ति के स्थान पर 'स्मिन् आदेश होने पर 'अस्मिन्' अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

एषु:—'इदम्+सुप्' इस स्थिति में 'त्यदादीनाम:' से मकार को अकार अन्तादेश, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'हलि लोप:' से इद्भाग का लोप होकर 'अ+सुप् बना। 'अद्यन्तवदेकस्मिन्' से अदन्तत्व के शेष रहने पर 'बहुवचने झल्येत्' से अकार को एत्व होकर पकार का अनुबन्ध लोप करके एवं 'आदेशप्रत्यययो:' से मूर्धन्य षकार होने पर 'एषु' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—इदम् शब्द पास में स्थित किसी अनुष्य वस्तु के लिये तथा एतद् शब्द अत्यन्त समीप वर्ती मनुष्य या वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार दूर स्थित प्रत्यक्ष के लिये 'अदस्' शब्द और अप्रत्यक्ष के लिये तत् शब्द का प्रयोग होता है। कहानी है :—

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

(एकादेश सूत्र)

३१. द्वितीया टौस्स्वेन:—२।४।३४

द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेश: स्यादन्वादेशे[1]। **एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयो:२॥२।४॥**

अर्थ—द्वितीया विभक्ति के परे तथा 'टा' और 'ओस्' विभक्ति के परे इदम् शब्द को एन् आदेश हो अन्वादेश की स्थिति में।

इदम् शब्द के पूरे रूप पुल्लिङ्ग में—

अयम्	इमौ	इमे
इमम्	,,	इमान्
अनेन	आभ्याम्	एभि:
अस्मै	,,	एभ्य:
अस्मात्	,,	,,
अस्य	अनयो:	एषाम्
अस्मिन्	,,	एषु

---

१. किसी कार्य के विधान के लिए जिसका उपादान किया गया हो, उसी का कार्यान्तर विधान के लिए पुन: उपादान करना अन्वादेश कहा जाता है। यथा—(i) अनेन व्याकरणम् अधीतम्, (ii) एनं छन्दोऽध्यापय। अर्थात् इसने व्याकरण पढ़ लिया, इसे वेद पढ़ाइये। यहाँ पहले व्याकरणाध्ययन रूप कार्य का विधान किया गया था और पुन: उसी के विषय में वेद पढ़ाना रूप अन्य कार्य का उपादान किया जा रहा है। अत: दूसरे वाक्य में अन्वादेश है। इसीलिए यहाँ 'एनम्' का प्रयोग किया गया है।

राजा—'राजन्+सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा तथा लोप करने पर सुडनपुंसकम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से अन्तिम नकार से पूर्व की उपधा संज्ञा वाले अकार को दीर्घ होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से सकार के लोप होने पर एवं 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर 'राजा' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

(नलोप—निषेध सूत्र)

३२. न ङिसम्बुद्धयोः—८।२।८॥

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्। (ङ। वुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः)। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ। राजानः। राज्ञः॥

अर्थ—नकार का लोप नहीं हो ङि और सम्बुद्धि के परे। अर्थात् सप्तमी विभक्ति तथा सम्बोधन के परे रहने पर राजन् आदि शब्दों के नकार के लोप का निषेध हो जाता है।

हे राजन्—'हे राजन्+सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर तथा उसकी सर्वनाम स्थान संज्ञा होने से दीर्घ प्राप्त हुआ किन्तु 'असम्बुद्धौ' सूत्र से दीर्घ चूंकि सम्बोधन से भिन्न विभक्ति को होता है अतः सम्बोधन के परे दीर्घ का निषेध हो गया। तदनन्तर 'हल्ङ्याब्भ्यः' से सलोप होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु यहाँ 'न ङि सम्बुद्धयोः' सूत्र के द्वारा नलोप के निषेध होने पर 'हे राजन्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ब्रह्मनिष्ठः—ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सः 'ब्रह्मनिष्ठः' ब्रह्मनिष्ठ इस स्थिति में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रय लेकर ब्रह्मन् शब्द से ङि विभक्ति के परे होने पर 'न ङि सम्बुद्धयोः' इस सूत्र से नकार के लोप प्राप्ति का निषेध होने पर किन्तु ङ वुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः' इस वार्तिक से उत्तर पद परक 'ङि' के परे न लोप का प्रतिषेध हो अर्थात् 'नङि सम्बुद्धयोः' यह निषेध नहीं लगे। इस प्रकार ब्रह्मन् के नकार का लोप ही हो गया तब 'ब्रह्मनिष्ठः' पद यथोचित या साधु पद है जो उक्त विधि से सिद्ध हुआ।

राजानौ—'राजन्+औ' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से अन्तिम नकार से पूर्व की उपधा संज्ञा वाले अकार को दीर्घ होने पर 'राजान्+औ' बना। तदनन्तर 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' से परस्पर मिलाकर 'राजानौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

राजानः—'राजन्+जस्' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर एवं 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से अन्तिम नकार से पूर्व की उपधा संज्ञा वाले अकार को दीर्घ होने पर 'राजान्+जस्' यह बना। 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा व लोप होकर तथा सकार को रुत्व विसर्ग करने के पश्चात्

'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' से परस्पर मिलाने पर 'राजानः' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

'राज्ञः'—'राजन्+शस्' इस स्थिति में शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर तथा 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' से अन् के अकार का लोप होने पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' न् को मकार तथा जकार एवं मकार के मेल से ञकार हो गया। तब 'राज्ञ्+अस्' यह बना। तत्पश्चात् सकार को रुत्व विसर्ग एवं 'अज्झीनं०' से आपस में सम्मिलित करके 'राज्ञः' यह रूप निष्पन्न हुआ।

(तुगादिवत् विधि में नकार लोप का विधान)

३३. न लोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति—८।२।२॥

सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्रः राजाश्व इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद् आत्वमेत्वमैस्त्वं[1] च न। राजभ्याम्। राजभिः। राज्ञि, राजनि। राजसु॥ यज्वा। यज्वानौ॥ यज्वानः॥

अर्थ—सुप् विधि, स्वर विधि, संज्ञा विधि और कृत् प्रत्यय के परे तुग्विधि कर्तव्य में नलोप हो जाता है, प्रत्युत अन्यत्र 'राजाश्व[2] इत्यादि स्थल में नकार का लोप विधान नहीं होता।

राजभ्याम्—'राजन्+भ्याम्' इस स्थिति में 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञा०' इत्यादि सूत्र से नकार का लोप होने पर तथा यहाँ सर्वनाम स्थान संज्ञा का अभाव होने से उपधा के दीर्घ या आत्व नहीं हुआ। अतः परस्पर मिलाकर 'राजभ्याम्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

राजभिः—'राजन्+भिस्' इस स्थिति में सुप् विधि अर्थात् सुप् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाली भिस् विभक्ति के पड़े रहने पर 'न लोपः सुप्स्वर० इत्यादि सूत्र से नकार का लोप होने के साथ-साथ यहाँ उक्त सूत्र से ही भिस् के स्थान पर ऐस्त्व का निषेध भी हो जाता है अतः 'राज+भिस्' यह बना। तदनन्तर 'खरवसानयो विसर्जनीयः' सूत्र से सकार को रु तथा 'ससजुषोरुः' से रु को विसर्ग होकर 'राजभिः' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

'राज्ञि, राजनि'—'राजन्+ङि' इस स्थिति में 'न ङि सम्बुद्धयोः' सूत्र से सप्तमी विभक्ति 'ङि' के परे रहने पर नकार के लोप का निषेध हो गया जबकि उससे पूर्व नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' द्वारा नकार के लोप की प्राप्ति थी। अतः

---

१. 'राजभ्याम्' इत्यादि में आत्वः राजभिः इत्यादि में ऐस् का होना तथा 'राजभ्यः' इत्यादि में एत्व विधि का निषेध हो जाता है।

२. यहाँ सवर्ण-दीर्घ-यणादि विधियों का सुप् विधि अन्तर्भाव होने से उनके करणीय विधानादि कार्यों में न लोप के असिद्ध का अभाव होने पर नकार लोप की सत्ता होने से सवर्णदीर्घादि निर्बाध हों।

नलोप का निषेध होने पर ङकार की 'कुहोश्चु' सूत्र से इत्संज्ञा व लोप करके 'राजन् + इ' बना। तदनन्तर अज्झीनं परेण 'संयोज्यम्' से मिलाने पर 'राजनि' यह अभीष्ट एक रूप निष्पन्न हुआ—तथा विकल्प की दशा में अजादि प्रत्यय परे होने पर 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होने पर अल्लोपोऽनः से अन् के अकार का लोप हो गया तब 'राज् + न् + ङि' यह बना। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' सूत्र से नकार को ञकार तथा 'जभोर्ज्ञः' सूत्र से जकार एवं ञकार को मिलकर ज्ञकार हो गया तथा ङि के ङकार की इत्संज्ञा एवं लोपादि प्रक्रिया के पश्चात् 'राज्ञ् + इ' बना। तब 'अज्झीनं०' के नियम द्वारा परस्पर मिलाने पर 'राज्ञि' यह द्वितीय रूप सिद्ध हुआ।

यज्वा[1]—'यज्वन् + सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा व लोप करने पर 'सुडनपुंसकस्य' सूत्र से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से सम्बुद्धि के अभाव में नान्त उपधा के दीर्घ होने पर 'हल्ङ्या०' इत्यादि सूत्र से सकार का लोप होने पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का भी लोप हो गया। इस प्रकार 'यज्वा' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

यज्वानौ—'यज्वन् + औ' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से सुट् प्रत्याहार में आने वाले (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पाँच विभक्ति के परे रहने पर नपुंसक से भिन्न दशा में चूँकि सर्वनाम स्थान संज्ञा होती है अतः ऐसी स्थिति उक्त सूत्र से नान्त उपधा (नकार से पूर्व) को आत्व (दीर्घ) होने पर 'यज्वान् + औ' यह बना। तब 'अज्झीनं०' के नियम से 'यज्वानौ' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

यज्वानः—'यज्वन् + जस्' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर, 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप होकर तथा 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से सर्वनाम स्थान संज्ञक विभक्ति के परे रहने पर नान्त उपधा को दीर्घ (आत्व) होने पर 'यज्वान् + अस्' बना तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर एवं 'अज्झीनं०' से परस्पर 'यज्वानः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(अकार लोप निषेध सूत्र)

३४. न संयोगाद्वमन्तात्—६।४।१३७॥

वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्॥ ब्रह्मणः। ब्रह्मणा॥

अर्थ—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप नहीं हो।

---

1. सविधिकृतयज्ञो यजमानो यज्वा अर्थात् विधिपूर्वक यज्ञकर लिया है जिसने ऐसे यजमान को यज्वा कहते हैं।

यज्वनः—'यज्वन्+शस्' शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा व लोप होने पर 'यचिभम्' से भसंज्ञा होकर 'अल्लोपोऽनः' से अन् के अकार को लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'न संयोगाद्वमन्तात्' सूत्र से उसके निषिद्ध होने पर सकार को रुत्व विसर्ग करके 'यज्वनः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

यज्वना—'यज्वन्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा तथा लोप करके 'यज्वन्+आ' बना। तब यचिभम्' से भसंज्ञा होकर 'अल्लोपोऽनः' से अन् के अकार को लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'न संयोगाद्वमन्तात्' से उसका निषेध होने पर एवं परस्पर मिलकर 'यज्वना' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

यज्वभ्याम्—'यज्वन्+भ्याम्' इस स्थिति में 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से अन् के अकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'न संयोगाद्वमन्तात्' सूत्र से उसके लोप का निषेध तथा 'न लोपः सुप्स्वरसंज्ञा०' इत्यादि सूत्र से नकार का लोप होने पर एवं परस्पर मिलाकर 'यज्वभ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ब्रह्मणः—'ब्रह्मन्+शस्' इस स्थिति में शकार की इत्संज्ञा व लोप होने पर 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होकर अल्लोपोऽनः से अन् के अकार को लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'न संयोगाद्वमन्तात्' सूत्र से यहाँ मान्त संयोग होने से अकार के लोप का निषेध हो गया। तब 'ब्रह्मन्+अस्' इस स्थिति में अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' सूत्र से नकार को णकार करने पर एवं सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'ब्रह्मणः' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

ब्रह्मणा—'ब्रह्मन्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा तथा लोप करने पर 'यचिभम्' से भसंज्ञा करके 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से अन् के अकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'न संयोगाद्वमन्तात्' सूत्र से अकार के लोप का निषेध हो गया। तत्पश्चात् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि से नकार को णकार करने पर तथा अज्झीनं से परस्पर मिलाकर 'ब्रह्मणा' रूप निष्पन्न हुआ।

(उपधादीर्घत्व-निषेध सूत्र

३५. इन्हन् पूषार्यम्णां शौ—६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थ—इन् हन, पूषन् और अर्यमन् की उपधा को दीर्घ होशि के परे रहने पर। जबकि अन्यत्र अर्थात् दण्डिनौ, वृत्रहणौ इत्यादि शब्दों (स्थलों) में उपधा के दीर्घ का निषेध हो जाता है।

(दीर्घ-विधायक सूत्र)

३६. सौच—६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसंबुद्धौ सौ । वृत्रहा[1] । हे वृत्रहा । हे वृत्रहन् ॥

अर्थ—इनाप्ति उपधा को जब दीर्घ हो जाता है जब असम्बुद्धि सुविभक्ति परे पड़ती है अर्थात् सम्बोधन से भिन्न सुविभक्ति परे रहने पर उक्त शब्द की उधा को दीर्घ हो ।

वृत्रहा—वृत्रहन्+सु, इस दशा में सु के इकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'वृत्रहन्+स्' हलङ्याब्भ्य० इत्यादि सूत्र से सकार का लोप 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' इस सूत्र से उपधा के दीर्घत्व का अभाव प्राप्त होने पर 'सौच' इस सूत्र से दीर्घत्व होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार के लोप होने के पश्चात् 'वृत्रहा' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ ।

हे वृत्रहन्—'हे वृत्रहन्+सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर हे वृत्रहन्+स्' बना, तब 'हल्ङ्याब्भ्य० इत्यादि सूत्र से सकार का लोप होगा । तत्पश्चात् 'इनहन्पूपार्यम्णां शौ' उपधा के दीर्घ का विधान चूंकि शि पड़े रहने पर ही होता है अतः अन्यथा की स्थिति में दीर्घ का निषेध हो जाता है । 'सौच' सूत्र द्वारा भी सम्बोधन की अवस्था में दीर्घ नहीं होता । इस प्रकार सर्वथा दीर्घत्व के अभाव में 'हे वृत्रहन्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(णकार विधायक सूत्र)

३७. एकाजुत्तरपदे णः—८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त नुम् विभक्तिस्थस्य नस्य णः । वृत्रहणौ ॥

अर्थ—एक अच् (स्वर) है उत्तरपद में जिस समास के, ऐसा जो समास, उस समास में पूर्व पदस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से परे जो प्रातिपदिकान्त नकार, नुम् घटक नकार और विभक्तिस्थ नकार उसको णकार हो ।

वृत्रहणौ—'वृत्रहन्+औ' इस स्थिति में 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' सूत्र से दीर्घत्व के निषेध करने पर 'एकाजुत्तरपदे णः' सूत्र से उत्तर पद में यहाँ एकाच् (औ) परे पड़ने पर वृत्रहन् के नकार को (प्रातिपदिकान्त नकार को) णकार हो गया एवं 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाने पर 'वृत्रहणौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

---

१. सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री वासवो वृत्रहा वृषा (इत्यमरः) वृत्र नामक राक्षस को जिसने मारा था इसीलिये वृत्रहा इन्द्र को कहते हैं । वृत्रो नाम असुरः तं हतवान् इत्यर्थे ब्रह्म-भ्रूणवृत्रेषु क्विप्-ककार तथा पकार की इत्संज्ञा । अपृक्त वकार का लोप (उपपदसमासः) ।

(कुत्व विधि सूत्र)

३८. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु—७।३।५४॥

ञिति णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वम् । वृत्रघ्नः इत्यादि । शार्ङ्गिन्[1], यशास्विन्[2], अर्यमन्[3], पूषन्[4] ।

अर्थ—ञित् णित् प्रत्यय के परे और नकार के परे हन् धातु के हकार को कुत्व[5] हो ।

वृत्रघ्नः—'वृत्रहन्+शस्' इस अवस्था में शकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'य चिभम्' इस सूत्र से भसंज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से 'अन्' के अकार का लोप होने पर 'वृत्रहन्+अस्' इस स्थिति में 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इस सूत्र से नकार परे रहने पर हकार के कुत्व होने की दशा में घकार होने पर सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर एवं परस्पर मिलाकर 'वृत्रघ्नः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(वैकल्पिक तृ अन्तादेश सूत्र)

३९. मघवा बहुलम्—६।४।१२८॥

मघवन् शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः । ऋ इत् ॥

अर्थ—मघवन् शब्द को 'तृ' अन्तादेश हो विकल्प से ।

४०. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः—७।१।७०॥

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे । मघवान् । मघवन्तौ । मघवन्तः । हे मघवन् । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे मघवा । सुटि राजवत् ॥

अर्थ—धातु भिन्न जो 'उगित्' और न लोपी जो अञ्च् धातु उसको नुम् को आगम हो, सर्वनाम स्थान के परे ।

मघवान्—'मघवन्+सु' इस स्थिति में 'मघवा बहुलम्' इस सूत्र से तृ अन्तादेश करने पर 'मघवतृ+सु' इस दशा में ऋकार को इत्संज्ञा होकर उसका लोप होने पर 'मघवत्+सु' ऐसा होने पर 'उगिदचां सर्वस्थानेऽधातोः' इस सूत्र से 'नुम्' का आगम तथा इसके मित्व एवं अन्तिम अच् से परे होने पर उकार तथा

---

१. शार्ङ्गिन् विष्णुः (पीताम्बरोऽच्युत शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः),
२. यशस्विन् कीर्तिमान् पुरुष,
३. सूर्यः,
४. सूर्यः,
५. कुत्व अर्थात् कवर्ग हो जाता है हकार को, चकार को भी झष् (कवर्ग का चतुर अक्षर घकार) होना कुत्व विधान से यहाँ अभिप्रेत है ।

मकार का अनुबन्ध लोप हो जाने पर 'मघवन्त्+सु बना। तत्पश्चात् सु के उकार की इत्संज्ञा व लोप हो जाने पर तथा 'हल्ङ्याब्भ्य०' से स् का लोप हो गया। तब तकार का 'संयोगान्तस्य लोपः' से अन्तिम संयोग संज्ञक के लोप हो जाने के निर्देश से लोप हो गया एवं 'मघवा बहुलम्' से लोप के असिद्धत्व के अभाव में सर्वनाम-स्थानेचाऽसम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घ हो जाने पर 'मघवान्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

मघवन्तौ—'मघवन्+औ' इस स्थिति में 'मघवा बहुलम्' सूत्र से तृ अन्ता-देश करने पर 'मघवतृ+औ' बना। तब ऋकार की इत्संज्ञा व लोप होने पर 'मघवत्+औ' यह बना। तब 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम हो गया एवं उम् का अनुबन्ध लोप होकर 'मघवन्त्+औ' यह बनने पर 'अज्झीनं०' के निर्देश से परस्पर मिलाकर 'मघवन्तौ' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

मघवन्त—'मघवन्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा व लोप करके अस् शेष 'मघवा बहुलम्' सूत्र से तृ अन्तादेश होने से नकार के स्थान पर 'तृ' हो गया तथा ऋकार की इत्संज्ञा व लोप होकर 'मघवत्+अस्' बना। तब 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् का आगम, उम् का अनुबन्ध लोप होकर 'मघवन्त्+अस्' बना। तब सकार को रुत्व विसर्ग करके एवं परस्पर मिलकार 'मघवन्तः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'हे मघवन्'—'हे मघवन्+सु' इस स्थिति में सु के उकार को अनुबन्ध लोप करके 'हे मघवन्+स्' बना। 'मघवा बहुलम्' से नकार के स्थान पर तृ अन्तादेश एवं ऋकार का लोप होने पर 'हे मघवन्+स्' बना। 'उगिदचां सर्वनामस्थाने-ऽधातोः' से नुम् का आगम व 'उम्' का अनुबन्ध लोप होकर 'हे मघवन्त्+स्' हल्ङ्याब्भ्य०' से सकार का लोप एवं संयोगातस्य लोपः' से तकार को लोप हो गया तथा सम्बुद्धि की दशा में नान्त उपधा के दीर्घत्व का अभाव हो जाने से 'हे मघवान्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

मघवद्भ्याम्—'मघवन्+भ्याम्' इस स्थिति में 'मघवा बहुलम्' से तृ अन्ता-देश, ऋकार की इत्संज्ञा व लोप होकर 'मघवत्+भ्याम्' यह बना तब 'झलांजश् झशि' सूत्र से अपदान्त जश्त्व सन्धि के निर्देश से तकार को दकार (जश्) हो गया। अतः 'मघवद्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

मघवा—'मघवन्+सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा तथा लोप करके 'मघवन्+स्' यह शेष रहा। 'मघवा बहुलम्' से तृत्व अन्तादेश विकल्प से एक बार न होने की स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्य०' से सकार का लोप हो गया तब 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घ एवं 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर अभीष्ट रूप 'मघवा' सिद्ध हुआ।

(सम्प्रसारण विधि सूत्र)

४१. श्वयुवमघोनामतद्धिते—६।४।१३३॥

अञ्जन्तानां भानामेषामतद्धिते सम्प्रसारणम् । मघोनः । मघवभ्याम् । एवं श्वन्, युवन्[1] ॥

अर्थ—अन्नन्त भसंज्ञक 'श्वन्-युवन्-मघवन्' रूप अङ्ग को सम्प्रसारण हो, तद्धित भिन्न प्रत्यय के परे।

मघोनः—'मघवन्+शस्' इस स्थिति में 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा तथा लोप होकर 'मघवन्+अस्' यह बना। 'यचिभ्' से भसंज्ञा होने पर 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' से वकार को सम्प्रसारण उकार होने पर 'मघउअन्+अस्, इस स्थिति में 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश अर्थात् उकार एवं अकार इन दोनों को एक उकार ही आदेश हो गया तब 'आद् गुणः' से घकार के अकार तथा उकार के स्थान पर ओकार गुण एकादेश हो गया अतः 'मघोन् अस्' यह बना। अन्त में सकार को रुत्व विसर्ग करके 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाकर 'मघोनः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

मघवभ्याम्—'मघवन्+भ्याम्' इस दशा में 'मघवा बहुलम्' सूत्र में तृत्वाभाव (तृ अन्तादेश के अभाव) पक्ष में 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से नकार का लोप हो जाने पर एवं परस्पर मिलाकर 'मघवभ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(सम्प्रसारण निषेधक सूत्र)

४२. न सम्प्रसारणे संप्रसारणम्—६।१।३७॥

संप्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः संप्रसारण न स्यात् । इति यकारस्य नेत्वम् । अत[2] एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं संप्रसारणम् । यूनः । यूना । युवभ्याम् इत्यादि ॥ अर्वा[3] । हे अर्वन् ॥

अर्थ—सम्प्रसारण के परे पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं हो अर्थात् सम्प्रसारण संज्ञक इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के पड़े (परे) या बाद में रहने पर यण् (य्‌व्‌र्‌ल्) को सम्प्रसारण के विधान का निषेध हो जाता है।

---

१. श्वा कुक्कुरः । युवा तरुणः ॥

२. सूत्र संख्या ४२ यह भी ज्ञापित कराता है कि युवन् इत्यादि शब्द में पूर्वस्थ यण् के पहले अथवा बाद में संप्रसारण नहीं होता है।

३. अर्वा अश्वः हयोवाजि (इत्यादि अमरादि कोषेषु)।

यूनः—'युवन्+शस्' इस स्थिति में शकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर 'यचिभम्' इस सूत्र से भसंज्ञा होने पर 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से बकार का सम्प्रसारण होने पर 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'यु+उन्+अस्' इस दशा में यकार का भी 'श्वयुवमघोनाम्०' इत्यादि सूत्र से सम्प्रसारण प्राप्त होते पर 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण का निषेध होने पर और संवर्ण दीर्घ करने पर एवं सकार को रुत्व विसर्ग करके तथा परस्पर मिलाकर 'यूनः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

यूना—'युवन्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा तथा अनुबन्ध लोप होकर 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होने पर 'श्वयुवमघोनाम्०' इत्यादि सूत्र से बकार का सम्प्रसारण होने पर 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्वरूप होने पर 'यु+उन्+आ' इस दशा में 'श्वयुवमघोनाम्०' इत्यादि से यकार का भी सम्प्रसारण प्राप्त हुआ किन्तु 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से उसका निषेध हो गया तथा सवर्ण दीर्घ एवं 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'यूना' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

युवभ्याम्—युवन्+भ्याम्' इस स्थिति में भसंज्ञा के अभाव में सम्प्रसारण कार्य न होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से प्रातिपदिक 'युवन्' के अन्तिम नकार का लोप हो गया तब परस्पर मिलाकर 'युवभ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

अर्वा—'अर्वन्+सु' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा व लोप हो जाने पर 'अर्वन्+स्' यह बना। 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थानेचाऽसम्बुद्धौ' से उपधा को दीर्घ तथा 'हलड्याब्भ्य०' से सकार का लोप एवं 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार के लोप हो जाने पर 'अर्वा' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

हे अर्वन्—'हे अर्वन्+सु' इस स्थिति में नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'नङिसम्बुद्ध्योः' से सम्बोधन विभक्ति परे रहने पर नलोप का निषेध हो गया। तब सु के उकार की इत्संज्ञा तथा लोप एवं 'हल्ङ्याब्भ्य०' इत्यादि से सकार का लोप होकर 'हे अर्वन्' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

४३. अर्वणस्त्रसावनञः—६।४।१२७॥

नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्याङ्गस्य तृ इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वद्भ्यामित्यादि॥

अर्थ—नञ् रहित अर्वन् शब्द को तृ अन्तादेश तब हो जाता है, जब सु से भिन्न विभक्ति परे रहते हो।

अर्वन्तौ[1]—'अर्वन्+औ' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान

---

१. 'न संयोगाद्वमन्तात्' सूत्र से वकार अन्त वाले संयोग संज्ञक से अन् के अकार का लोप नहीं हुआ अतः यहाँ नकार से परे तृ अन्तादेश हुआ है।

संज्ञा हो गई तथा 'अर्वणस्त्रसावनञः' सूत्र से तृ अन्तादेश एवं ऋकार की इत्संज्ञा व लोप होने पर 'अर्वन् त् औ' यह बना। परस्पर मिलाने पर 'अज्झीनं० परेण संयोज्यम्' से 'अर्वन्तौ' यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

अर्वन्तः—'अर्वन्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके 'अर्वन्+अस्' यह बना। 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'अर्वणस्त्रसावनञः' से तृ अन्तादेश होकर ऋकार लोप हो गया तब 'अर्वतृन्+अस्' यह बना 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप एवं 'उगिदचांसर्वनाम-स्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नुम् का आगम एवं उम् का अनुबन्ध लोप करके 'अर्वन् त्+अस्' सकार को रुत्व विसर्ग एवं 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाकर 'अर्वन्तः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'अर्वद्भ्याम्'—'अर्वन्+भ्याम्' इस स्थिति में 'अर्वणस्त्रसावनञ्' सूत्र से तृ अन्तादेश करके 'अर्वत् न्+भ्याम्' बना 'नलोपःप्राति०' इत्यादि सूत्र से नकार का लोप होने पर तथा 'झलां जश् झशि' से अपदान्तजश्त्व सन्धि कार्य करके तकार को दकार हो गया। इस प्रकार 'अर्वद्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(आकार अन्तादेश सूत्र)

४४. **पथि मथ्यृभुक्षामात्**—७।१।८५॥

एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे॥

अर्थ—पथ्यादि (पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्) शब्दों को आकारान्त आदेश हो सु विभक्ति के परे रहने पर।

(अकारादेश सूत्र)

४५. **इतोऽत्सर्वनामस्थाने**—७।१।८६॥

पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे।

अर्थ—पथ्यादि के इकार को अकार आदेश हो सर्वनाम स्थान के परे रहने पर।

(न्थादेश सूत्र)

४६. **थोन्थः**—७।१।८७॥

पथिमथोस्थस्यन्थादेशः[1] सर्वनामस्थाने। पन्थाः[2]। पन्थानौ। पन्थानः॥

अर्थ—पथिन्, मथिन् शब्दों के थकार को न्थ आदेश उस दशा में हो जाता है जब सर्वनाम स्थान संज्ञक विभक्ति परे रहती है।

पन्थाः—'पथिन्+सु' इस स्थिति में 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' सूत्र से आकारान्तादेश करने पर 'पथि+आ+सु' यह हो गया। तब 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' सूत्र से थकार के अन्तर्गत पड़े हुए इकार का अकारादेश करने पर 'पथ् अ आ सु' ऐसा होने पर 'थो न्थः' इस सूत्र से थकार को न्थादेश करने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश एवं सु के उकार की इत्संज्ञा व लोप और सकार को रुत्व विसर्ग करके 'पन्थाः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

१. अनुवृत्त पथि, मथि, ऋभुक्षिन् शब्दों को अन्तर्गत ऋभुक्षिन् शब्द में थकार की सत्ता न होने से उक्त आदेश न हो।

२. पन्थाः मार्गोऽध्ववर्त्मनोः (अमरादिकोषों में मार्ग के पर्यायवाची शब्द हैं)।

पन्थानौ—'पथिन्+औ' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा हो गयी। तब 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' सूत्र से थकार के अन्तर्गत निहित थकार के इकार को अकारादेश करके 'पथ्+अन्+औ' ऐसा बनने पर 'थो न्थः' सूत्र से थकार को न्थादेश करके 'पन्थ अन् औ' बना। तत्पश्चात् 'अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ एकादेश एवं 'अज्झीनं०' के नियम से परस्पर मिलाने पर 'पन्थानौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पन्थानः—'पथिन्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा एवं अनुबन्ध लोप करके 'पथिन्+अस्' यह बना। 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा करके 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से थकार के इकार को अकारादेश करके पथ् अ न् +अस्। तब 'थो न्थः' सूत्र से थकार को न्थादेश होकर एवं सवर्ण दीर्घ तथा सकार को रुत्व विसर्ग होने पर 'पन्थानः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(टिलोप सूत्र)

४७. भस्य टेर्लोपः—७।१।८८॥

भस्य पथ्यादेष्टे लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्॥ एवं मथिन्० ऋभुक्षिन्॥

अर्थ—भसंज्ञक पथ्यादि के 'टि' का लोप हो जाता है।

'पथः'—'पथिन्+शस्' इस अवस्था में शकार की इत्संज्ञा व लोप करने प· 'यचिभम्' से इसकी भसंज्ञा हो गयी तथा 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'इन्' भाग की 'टि' संज्ञा करने पर 'भस्य टेर्लोपः' से टिसंज्ञक शब्दांश (इन्) का लोप कर दिया। तब सकार को रुत्व तथा रुत्व या रेफ को विसर्ग होकर 'पथः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पथा—'पथिन्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'पथिन्+आ' यह बना। तब 'यचिभम्' से इसकी भसंज्ञा हो गयी तथा 'अचोऽन्त्यादि टि' से इन भाग की टि संज्ञा होने पर 'भस्य टेर्लोपः' से टि संज्ञा वाले इन् भाग का लोप हो जाने पर तथा 'अज्झीनं० परेण संयोज्यम्' से परस्पर मिलाकर 'पथा' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पथिभ्याम्—'पथिन्+भ्याम्' इस स्थिति में 'नलोपः प्राति०' इत्यादि से नकार लोप तथा मिलकर 'पथिभ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—एवमेव (इसी प्रकार) मन्थाः[१] तथा ऋभुक्षाः[२] इत्यादि रूप भी पथिन् की भाँति सिद्ध होंगे।

---

१. मन्था इति मन्थनदण्डः (जिसे लोक भाषा में रई भी कहते हैं)।
२. (ऋभुक्षाः) बलारातिः शचीपतिः……ऋभुक्षा इत्यमर (इन्द्रो नेता वाचेति ल. सि. कौमुद्याम् गीता प्रेस गोरखपुरस्य)।

(षट् संज्ञा सूत्र)

४८. ष्णान्ता षट्—१।१।२४॥

षान्ता नान्ता च संख्या षट् संज्ञा स्यात् । पञ्चन् शब्दो नित्यं बहुवचनान्त पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः२ । नुट् ॥

अर्थ—षान्त, नान्त और संख्या वाचक शब्दों की षट् संज्ञा होती है ।

पञ्च—'पञ्चन्+जस्' इस स्थिति में 'ष्णान्ता षट्' सूत्र से पञ्चन् शब्द की षट् संज्ञा करने पर 'षड्भ्यो लुक्' से जस् अथवा शस् का लोप हो जाने पर 'पञ्चन्' शब्द शेष रहा । तदन्तर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हो जाने सकार पर 'पञ्च[1]' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

पञ्चभिः—'पञ्चन्+भिस्' इस स्थिति में 'ष्णान्ता षट्' से पञ्चन् शब्द की षट् संज्ञा हो गयी । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर सकार का रुत्व विसर्ग होकर 'पञ्चभिः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

पञ्चभ्यः—'पञ्चन्+भ्यस्' इस स्थिति में 'ष्णान्ता षट्' से पञ्चन् शब्द की षट् संज्ञा हो गयी । 'नलोपः प्राति०' इत्यादि से नकार का लोप तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर एवं परस्पर मिलाकर 'पञ्चभ्यः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(नाम परक उपधा के दीर्घत्व का सूत्र)

४९. नोपधायाः—६।४।७॥

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि[2] । पञ्चानाम् । पञ्चसु ॥

अर्थ—नान्त शब्दों की उपधा को उस स्थिति में दीर्घ हो जाता है जब 'नाम्' परे रहते हो ।

पञ्चानाम्—'पञ्चन्+आम्' इस दशा में 'षट्चतुर्भ्यश्च' सूत्र से 'आम्' को नुट् का आगम होने पर उट् की इत्संज्ञा व लोप करके 'पञ्चन्+नाम्' यह बना । तत्पश्चात् 'नोपधायाः' से नान्त उपधा को दीर्घ करके एवं 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हो जाने पर 'पञ्चानाम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

पञ्चसु—'पञ्चन्+सुप्' इस स्थिति में पकार की इत्संज्ञा व लोप होने पर 'ष्णान्ता षट्' से पञ्चन् शब्द की षट् संज्ञा हो गयी । तब 'नलोपः प्राति०' इत्यादि से नकार के लोप हो जाने पर तथा परस्पर मिलाकर 'पञ्चसु' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(आत्व विधि सूत्र)

५०. अष्टन् आ विभक्तौ—७।२।८४॥

हलादौ वा स्यात् ॥

---

१. इसी प्रकार शस् विभक्ति परे रहने पर उपर्युक्त प्रक्रियानुसार ही 'पञ्च' रूप सिद्ध होगा ।

२. नाम्' अर्थात् 'नुम्' के आगमपूर्वक आम् (षष्ठी विभक्ति सूचक) प्रत्यय के परे रहने पर उपधा को दीर्घ होने का निर्देश किया गया है ।

अर्थ—अष्टन् शब्द को विकल्प से उस दशा में 'आत्व' हो जाता है जब हलादि विभक्ति परे रहते हो।

(औश् विधि सूत्र)

५१—अष्टाभ्य औश्—७।१।२१

कृताकाराद्ष्टनो जश्शसोरौश्। अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्व निर्देशो जश्शसो-विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ-अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः-अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। अत्वाभावे अष्ट[1]-पञ्चवत्॥

अर्थ—कृताकारक 'अष्ठन्' शब्द से परे 'जस् शस्' को 'औश्' आदेश हो।

अष्टौ—'अष्टन्+जस्' इस स्थिति में 'अष्टन् आ विभक्तौ' सूत्र से आकारान्तादेश करने पर 'अष्ट आ जस्' ऐसा रूप बना। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से दीर्घ होने पर 'अष्टाभ्य औश्' इस दशा में जस् को 'औश्' आदेश होने पर 'लशक्व तद्धिते' से शकार का अनुबन्ध लोप हो गया एवं 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'अष्टौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(क्विन् प्रत्ययविधि सूत्र)

५२—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च—३।२।५९॥

एभ्यः क्विन्, अञ्चेः सुप्युपपदे, युजिक्रुञ्चोः केवलयोः; क्रुञ्चे र्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ॥

अर्थ—ऋतु शब्द पूर्वक यज् धातु, धृष धातु सृज्-धातु, दिश्-धातु, उत्पूर्वक स्निह-धातु, अञ्च धातु, युज धातु और क्रुञ्च धातुओं से क्विन् प्रत्यय हो।

(कृत्संज्ञा सूत्र)

५३—कृदतिङ्—३।१।९३॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्॥

अर्थ—इस (सन्निहित) धात्वधिकार में तिङ भिन्न जो प्रत्यम हो वह कृत्संज्ञक हो।

(वकार लोप सूत्र)

५४—वेरपृक्तस्य—६।१।६७॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः॥

अर्थ—अपृक्त संज्ञक वकार का लोप हो।

(कवर्गान्तादेश सूत्र)

५५—क्विन्प्रत्ययस्य कुः—८।२।६२॥

क्विन् प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते। अस्यासिद्ध त्वाच्चोः कुरिति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्॥

---

[1] आत्व का अन्तादेश चूंकि विकल्प से होता है अतः उसके अभाव में 'अष्ट' यह रूप बनेगा।

अर्थ—क्विन् प्रत्यय जिससे विधान किया जाय उसको कवर्गान्तादेश हो, पदान्त में।

ऋत्विक्, ऋत्विग्—ऋतु उप-पद पूर्वक यज् धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय का विधान होने पर 'वचिस्वपियजादीनाम्' सूत्र से सम्प्रसारण प्राप्त होने पर 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्व पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होने पर ऋतु+इज+क्विन् तब 'इको यणचि' से यण् करके उकार को वकार होकर 'ऋत्विज्+क्विन्' बना। इस स्थिति में 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'हलन्त्यम्' सूत्र से नकार की इत्संज्ञा व लोप होने पर और इकार की उच्चारणार्थ सत्ता होने से उसके चले जाने पर वकार का 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से अपृक्त संज्ञा होने पर 'वेरपृक्तस्य' इससे अपृक्त संज्ञक वकार का लोप होने पर 'कृदतिङ्' सूत्र से क्विन् की कृत् संज्ञा हो गयी। तब कृदन्त होने से 'कृत्तद्धित समासाश्च' से प्रतिपादिक संज्ञा होने पर 'ऋत्विज्+सु' इस दशा में उकार की इत्संज्ञा व लोप होकर ऋत्विज्+स् बना। तत्पश्चात् 'हल्ङ्याब्भ्यः०' इत्यादि से सकार का लोप हो गया। तब 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कवर्गान्तादेश होने पर जकार को गकार एवं 'वावसाने' से विकल्प से चर्त्व होने से ककार होने पर 'ऋत्विक्' तथा चर्त्व के अभाव में 'ऋत्विग्' ये अभीष्ट रूप सिद्ध हुये।

ऋत्विजौ—'ऋत्विज्+औ' इस स्थिति में 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कवर्गान्तादेश प्राप्त हुआ किन्तु पदान्त की स्थिति का अभाव होने से उसका बाध होकर एवं 'अज्झीनं इत्यादि नियम से परस्पर मिलाकर ऋत्विजौ यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ऋत्विग्भ्याम्—'ऋत्विज्+भ्याम्' इस स्थिति में अपदान्त की सत्ता के कारण 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कवर्गान्तादेश का निषेध होने पर 'चोः कुः' से जकार को गकार अर्थात् चवर्ग को कवर्ग होने पर एवं परस्पर मिलाकर 'ऋत्विग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(नुमागम सूत्र)

५६—युजेरसमासे—७।१।७१

युजोः सर्वनामस्थाने नुम् स्यावसमासे। सुलोपः। संयोगान्त लोपः। कुत्वेन[1] नस्य ङः। युङ्[2]। अनुस्वार परसवर्णौ युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्॥

अर्थ—युज् धातु को नुम् का आगम हो सर्वनाम स्थान के परे असमास में।

युङ्—'युज्+सु' इस स्थिति में सुप् की उत्पत्ति से पहले 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय परक होने पर क्विन् का लोप होकर तथा क्विन् की कृत् संज्ञा होकर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी तब सु के उकार का लोप करके

---

१. क्विन् प्रत्ययान्त शब्द को कवर्गान्तादेश हो जाता है। कुत्व का अभिप्राय कवर्ग ही जानना चाहिए।

२. युङ् योगी अथवा जोड़ने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

'युज्+स्' बना तब 'युजेरसमासे' से नुम् का आगम तथा उम् का अनुबन्ध लोप करके 'युज्+ज्+स्' 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से जकार के लोप होने पर 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से नकार को कुत्व (कवर्ग) करके नकार को ङकार होने पर 'युङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

युञ्जौ—'युज्+औ' इस स्थिति में क्विन् प्रत्ययान्त शब्द की कृत् संज्ञा तथा प्रातिपदिक संज्ञादि कार्य होकर 'सुडनपुंसकस्य' से औ विभक्ति परे रहने पर सर्वनाम स्थान संज्ञा हो गयी, तब 'युजेरसमासे' से नुम् का आगम। उम् का लोप करके 'युन्ज्औ' बना। 'क्विन् प्रत्ययस्यकुः' सूत्र से कुत्व अर्थात् नकार को ङकार प्राप्त हुआ किन्तु चवर्ग जकार पड़े रहने पर 'स्तोःश्चनाश्चुः' से तवर्ग (नकार) को चवर्ग (ञकार) होने पर 'युञ् ज् औ' बना। तब अज्झीनं से परस्पर मिलाकर 'युञ्जौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

युञ्जः—'युज्+जस्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्ययान्त युञ् धातु की कृत् संज्ञा प्रातिपदिक संज्ञा होगयी। तब जस् विभक्ति के जकार का अनुबन्ध लोप होने पर 'युञ्+अस्'। सर्वनाम स्थान संज्ञा होने से 'युजेर समासे' से नुम् का आगम करके तथा उम् को हटाने पर 'युन ज् अस्' बना। तवर्ग (नकार) के तश्चात् चवर्ग (जकार) होने पर कुत्व का निषेध होकर स्तोश्चुनाश्चुः से नकार को ञकार करके तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर एवं 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'युञ्जः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

युग्भ्याम्—'युञ्+भ्याम्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्यय कृत् तथा प्रातिपदिक संज्ञादि कार्य होने पर 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' सूत्र के द्वारा जकार को कुत्व (गकार) करके 'युग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(कवर्ग विधि सूत्र)

५७—चोः कुः—८।२।३०

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्, सुयग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्॥ खन्। खञ्जौ। खग्भ्याम्।

अर्थ—चवर्ग को, कवर्ग आदेश हो, झल् के परे पदान्त में।

सुयुक्, सुयुग्—'सुयुज्+सु' इस स्थिति में क्विन् प्रत्ययान्त युज् धातु की कृत् संज्ञा तथा 'कृत्तद्धित समासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सु के उकार की इत्संज्ञा व लोप। तब 'सुयुज्+स्' इस दशा में सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर भी युज धातु सु उपसर्ग पूर्वक अथवा समास युक्त होने से नुम् के आगम का निषेध हो गया। 'तब चोः कुः' से चवर्ग को क वर्ग होकर जकार को गकार होगया एवं 'खरिच' से गकार को ककार तथा सकार का लोप तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प से ककार को गकार हो जाने पर 'सुयुक्' एवं 'सुयुग्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

सुयुजौ—'सुयुज्+औ' इस स्थिति में क्विन् प्रत्ययान्त युज् धातु की कृत् संज्ञा तथा प्रातिपदिक संज्ञा होगयीं। सर्वनाम स्थान संज्ञक औ के परे रहने पर भी

युज् धातु समास युक्त होने से नुम् का बाध होगया तथा पदान्त में झल् का अभाव आ पड़ने से 'चोः कुः' से चवर्ग को कवर्ग भी नहीं हुआ तब 'अज्झीनं०' के नियम से मिलाकर 'सुयुजौ' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सुयुग्भ्याम्— 'सुयुज्+भ्याम्' इस स्थिति में सु उपसर्गपूर्वक युज धातु की कृत् तथा प्रातिपादिक संज्ञायें होगयीं। तब 'चोः कुः' से झल् प्रत्याहार परे होने पर जकार का गकार अर्थात् चवर्ग को कवर्ग हो गया तब 'अज्झीनं०' से मिलाने पर 'सुयुग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

खन्—'खञ्ज्+सु' इस स्थिति में गकार की इत्संज्ञा तथा लोप करके 'खन्+स्' बना। क्विन् प्रत्ययान्त धातु की कृत्संज्ञा तथा प्रातिपदिक संज्ञा होने पर उच्च प्रत्ययों का सर्वापहार लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्य०' से सकार का लोप होकर 'खन्ज्' यह बना। तब 'संयोगान्तस्यलोपः से जकार का लोप होकर 'खन्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'खञ्जौः'—'खञ्ज्+औ' इस स्थिति में अथवा 'खजि गति वैकल्ये' धातु इकार की इत्संज्ञा व लोप तब 'खज्+औ' तत्पश्चात् क्विन् प्रत्ययान्त होने से कृत् संज्ञा तथा प्रातिपदिक संज्ञा करके 'उगिदचां सर्वनाम०' इत्यादि से नुम् का आगम उम् का लोप तब 'खन् ज्+औ' बना। तत्पश्चात् 'स्तोः श्चुनाश्चुः' से तवर्ग (नकार) को चवर्ग (जकार) का मेल होने से ञ् कार (चवर्ग) हो जाने पर तथा 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'खञ्जौ' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

खन्भ्याम्—'खजि गतिवैकल्ये' धातु क्रुञ्चादि धातुओं में होने से क्विन् प्रत्ययान्त है। अतः लोपादि के बाद कृत् संज्ञा तथा प्रातिपदिक संज्ञा होने पर तृतीयादि के द्वि बचनों में 'खंज्+भ्याम्' बना। इस दशा में क्विन् 'प्रत्ययस्य कुः' से कवर्गान्तादेश करके जकार को गकार तथा अनुस्वार को नकार एवं गकार का संयोग लोप करके 'खन्भ्याम्' यह रूप सिद्ध हुआ।

(षकार अन्तादेश सूत्र)

५८—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशांषः—८।२।३६॥

झलि पदान्ते च। जश्त्वचर्त्वे। राट्, राड्, राजौ। राज+राज्भ्याम्॥ एवं विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्॥ (परौ व्रजेः षः पदान्ते) परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद्दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्, परिव्राजौ।

अर्थ व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज्, धातुओं को तथा छकारान्त और शकारान्त को षकारान्त शादेश हो 'झल्' के परे पदान्त में।

राट्, राड्—'राज्+सु' इस स्थिति में सुलेपादि प्रक्रिया के पश्चात् 'व्रश्च भ्रस्जराज०' इत्यादि सूत्र से षकार अन्तादेश करने पर 'झलांजशोऽन्ते' सूत्र के द्वारा षकार को डकार तथा 'वावसाने' से डकार को विकल्प से टकार करने पर 'राट्' अथवा राड् ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

राजौ—राज् > दीप्तौ धातु से क्विप् प्रत्यय तथा सर्वापहार लोपादि कार्य के पश्चात् कृदन्त प्रातिपदिक राज् शब्द के परे प्रथमा द्वि० की विभक्ति 'औ' लगाने पर 'राज्+औ' बना । उक्त स्थिति में पर में झल् प्रत्याहार तथा पदान्त का अभाव होने से षत्वान्तादेश का निषेध हो जाने पर एवम् 'अज्झीनं०' से परस्पर संयुक्त करके 'राजौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

राजः—'राज्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप करने पर 'राज्+अस्' बना । इस दशा में 'व्रश्चभ्रस्जराज०' इत्यादि से षकार अन्तादेश प्राप्त हुआ किन्तु झल् प्रत्याहार का अभाव होने पर उसका निषेध होगया एवम् सकार को रुत्व विसर्ग तथा 'अज्झीनं०' से मिलाकर राजः यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

राड्भ्याम्—'राज्+भ्याम्' इस स्थिति में 'व्रश्चभ्रस्जराज०' इत्यादि से षकार अन्तादेश करने पर तथा 'झलां जशोऽन्ते' से षकार का डकार करके एवं परस्पर मिलाकर 'राड्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

वार्तिक—परौ व्रजेः षः पदान्ते—(परि उपसर्ग पूर्वक 'व्रज्' धातु से क्विप् प्रत्यय हो और उपधा अकार को दीर्घ हो तथा पदान्त में षत्व भी हो ।)

परिव्राट्[1]—'परिव्रज्+सु' परि उपसर्ग पूर्वक व्रज धातु से 'परौ व्रजेः षः पदान्ते वार्तिक से क्विप् प्रत्यय होने पर तथा व्रज् को दीर्घ होकर एवं षत्व करके क्विप् और सु का लोप करके 'झलां जशोऽन्ते' से षकार को डकार होगया । तब 'वावसाने' से डकार का टकार होने पर 'परिव्राट्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

परिव्राजौ—'परिव्रज्+औ' इस स्थिति में 'परौ व्रजेः षः' पदान्ते' वार्तिक से परि उपसर्ग पूर्वक व्रज धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर तथा व्रज को दीर्घ होगया, तब 'परिव्राज्+औ' बना तत्पश्चात् मिलाने पर 'परिव्राजौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(विश्व के दीर्घत्व का सूत्र)

५९—विश्वस्य वसुराटोः—६।३।१२८॥

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद्वसौ राट् शब्दे च परे । विश्वाराट्, विश्वाराड् । विश्वराजौ । विश्वाराड्भ्याम् ॥

अर्थ—विश्व शब्द को दीर्घ हो, वसु और राट् शब्द के परे ।

विश्वाराट्[2], **विश्वाराड्**—'विश्वराज्+सु' इस स्थिति में सु के लोप होने पर 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से जकार को षकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' से षकार को डकार

---

१. **परिव्राट्**—संन्यासी ।

२. **विश्वाराट्**—विश्वेश्वरः ।

एवं 'वावसाने' से डकार को टकार होने पर तथा 'विश्वस्य वसु[1]राटोः' सूत्र से दीर्घत्व करके 'विश्वाराट्' तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प से 'विश्वाराड्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

(सकार-ककार लोपसंज्ञक सूत्र)

६०—'स्कोःसंयोगाद्योरन्ते च—८।२।२९।।

पदान्ते झलि च यः संयोगस्तदाद्योः स्कोर्लोपः। भृट्। सस्य श्चुत्वेन शः। झलां जश् झशि इति शस्य जः। भृज्जौ भृड्भ्याम्।। त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च।।

अर्थ—पदान्त झल् परक संयोगादि सकार और ककार का लोप हो।

भृट्[2], भृड्—'भ्रस्ज पाके' धातु से क्विप् प्रत्यय तथा सर्वापहार लोप किया एवं 'ग्रहिज्या०' इत्यादि से सम्प्रसारण करके रेफ के स्थान पर ऋकार हो गया। तत्पश्चात् 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप करने पर सु विभक्ति लगाने पर 'भृस्ज्+सु' बना। तब सु के लोप होने पर तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से संयोगादि सकार का लोप होने पर 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से जकार को षत्व एवं षकार को डत्व व 'वावसाने से टकार करने पर 'भृट्' तथा वैकल्पिक 'भृड्' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

भृज्जौ—'भ्रस्ज पाके' धातु से क्विप् में प्रत्यय तथा सर्वापहार लोप किया तब 'ग्राहिज्या०' इत्यादि सूत्र से सम्प्रसारण करके रेफ को ऋकार होने पर एवं 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप करने पर तथा 'औ' के आने पर 'भृस्ज्+औ' बना। तब 'स्तोः श्चुना श्चुः' से सकार को शत्व एवं झलां जश् झशि से शकार को जकार होकर 'भृज्ज्+औ' बना एवं इन्हें मिलाने पर भृज्जौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

भृड्भ्याम्—'भृस्ज्+भ्याम्' इस स्थिति में 'स्कोः संयोगाद्यो०' इत्यादि से सकार लोप होने पर 'वृश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से जकार को षकार अन्तादेश होकर भृष्+भ्याम् बना। तब 'झलां जशोऽन्ते' से षकार को डकार करके एवं मिलाने पर 'भृड्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(तकार दकार का सकारविधायक सूत्र)

६१—तदोः सः सावनन्त्ययोः—७।२।१०६।।

त्यदादीनां तकार दकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ। स्यः। त्यौ। त्ये। सः। तौ। ते। यः। यौ। ये।। एषः। एतौ। एते।।

अर्थ—त्यदादि के अनन्त्य तकार दकार को सकार हो, सु के परे।

स्यः—'त्यद्+सु' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से दकार के स्थान पर अकारादेश करने पर तथा 'अतो गुणे' से पररूप हो गया तब 'त्य+सु' का तत्पश्चात्

---

१. वसु शब्द के परे विश्व शब्द को दीर्घ होने पर 'विश्वावसुः' जो गन्धर्व विशेष का संज्ञक है; विश्वाराट् की भाँति उदाहरण है।

२. भृट् भजनकर्तेत्यर्थः (भजन या सेवा करने वाले) को 'भृट्' कहा जाता है।

'तदोः सः सावनन्त्ययोः' से अनन्त्य (आदि) तकार का सकार करने पर सु के उकार का लोप करके एवं सकार को रुत्वविसर्ग होकर 'स्यः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

त्यौः—'त्यद्+औ' इस स्थिति में त्यद् के दकार का 'त्यदादीनामः' से अकारादेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप करके 'त्य+औ' बना। तब 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि करने पर 'त्यौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

त्ये—'त्यद्'+जस्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' में दकार का अकारादेश तथा 'चुटू, से जकार का अनुबन्ध प्राप्त हुआ किन्तु 'जसः शी' सूत्र से जस् के स्थान पर 'शी' आदेश होने पर तथा 'लशक्वतद्धिते' से शकार को इत्संज्ञा एवं लोप होने पर और अतोगुणे से पररूप होकर 'त्य+ई' बना तदनन्तर 'आदगुणः' से अकार तथा ईकार के स्थान पर गुण एकादेश एकार होने पर 'त्ये' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सः—'तद्+सु' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से दकार के स्थान पर अकारा-
देश तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर 'त+सु' बना तब 'तदोः सः
सावनन्त्ययोः' से तकार को सकार करने पर तथा सु के उकार का लोप एवं सकार
के रुत्व विसर्ग होने पर 'सः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

तौ—'तद्+औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से दकार के स्थान के पर
अकारादेश तथा 'अतो गुणे' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'त+औ' बना। तब 'वृद्धि-
रेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'तौ' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ते—'तद्+जस्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से दकार के स्थान पर अकारा-
देश तथा 'अतो गुणे' से पूर्वरूप एकादेश होने पर एवं 'जसः शी' से जस् के स्थान पर
'शी' आदेश होने पर शकार की इत्संज्ञा व लोप करके 'त+ई' यह बना। तब
'आद्गुणः' से अकार और ईकार के स्थान पर एकार गुण एकादेश होने पर 'ते' यह
अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—इसी प्रकार यद् के पुल्लिंग में 'यः यौ ये' रूप बनेंगे।

एषः—'एतद्+सु' इस स्थिति में 'त्यदादीनाम' दकार के स्थान पर अकारा-
देश तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश करके 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' से तकार के
स्थान पर सकारादेश होकर 'आदेश प्रत्यययोः' से सकार को षकार हो गया तब 'एष
+सु' यह बना। तत्पश्चात् उकार की इत्संज्ञा व लोप करके सकार को सत्व विसर्ग
होकर 'एषः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—तद् के ही अनुसार एतद् के रूप भी 'एषः, एतौ, एते' आदि सिद्ध होंगे।

('अम्' आदेश विधिसूत्र)

६२—ङे प्रथमयोरम्—७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः॥

अर्थ—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे ङे और प्रथमा-द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश हो।

('त्व'-'अह' आदेश सूत्र)

६३—त्वाहौ सौ—७।२।९४।।

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ आदेशौ स्तः ।।

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'अह' आदेश हों क्रमशः सु के परे रहने पर ।

(टि लोप सूत्र)

६४—शेषे लोपः—७।२।९०।।

(एतयोष्टिलोपः । त्वम्[1] । अहम् ।।)

अर्थ—आत्व-यत्व के निमित्तेतर विभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्दों की 'टि' का लोप हो जाता है ।

त्वम्—'युष्मद्+सु' इस स्थिति में 'ङेप्रथमयोरम्' सूत्र से सु के स्थान पर अम्' आदेश करने पर 'युष्मद्+अम् बना । तब 'त्वाहौ सौ' से युष्मद् के मपर्यन्त भाग को 'त्व' आदेश करने पर 'त्व अद् अम्' यह बनने पर 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'शेषे लोपः' से दकार (टि) का लोप हो गया तब 'त्व अम्' बना । तत्पश्चात् 'अमि पूर्वः' सूत्र से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'त्वम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

अहम्—'अस्मद्+सु' इस स्थिति में 'ङेप्रथमयोरम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश करने पर 'त्वाहौ सौ' से 'अस्मद् को मपर्यन्त 'अह' आदेश होने पर 'अतो-गुणे' से पूर्वरूप करके 'अहद् अम्' यह होने पर 'शेषे लोपः' सूत्र से दकार के लोप होने पर 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'अहम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(युव-आव' आदेश सूत्र)

६५—युवावौ द्विवचने—७।२।९२ ।।

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।।

अर्थ—द्वित्वार्थ[2] प्रतिपादक युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'युव' और 'आव' आदेश हो, विभक्ति के परे ।

(अत्व विधिसूत्र)

६६—प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्[3]—७।२।८८ ।।

औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ।।

---

१. युष्मद् अस्मद् शब्दों के तीनों लिङ्ग में समान रूप रहते हैं । जैसे—त्वं पुमान्; अहं पुमान् । त्वं स्त्री, अहं स्त्री । त्वं दैवतम्, अहं दैवतम् ।। इत्यादि ।

२. द्वित्वार्थवाची अथवा द्विवचनवाची अस्मद् तथा युष्मद् के मपर्यन्त भाग को ।

३. प्रथमाविभक्ति के द्विवचन में औ परे रहने पर युष्मद्, अस्मद् के अन्तिम भाग को आत्व (आकारान्तादेश) हो जाता है जब उनका प्रयोग लौकिक संस्कृत वाङ्मय में किया जाता है तभी उक्त नियम का विधान होता है अन्यथा नहीं ।

अर्थ—प्रथमा द्विवचन के परे युस्मद् अस्मद् शब्द को आत्व हो जाता है लौकिक संस्कृत साहित्य में।

युवाम्—'युष्मद्+औ' इस स्थिति में 'ङेप्रथमयोरम्' सूत्र से औकार के स्थान पर 'अम्' आदेश होने पर 'युवावौ द्विवचने' सूत्र से युष्मद् के मपर्यन्त भाग को 'युव' आदेश होने पर 'युव अद अम्' बना। 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'प्रथमायाश्चद्विवचने भाषायाम्' सूत्र से आकारान्तादेश होने पर 'युव आ अम्' बना। तब 'अकःसवर्णेदीर्घः' से पूर्व पर के स्थान पर दीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'युवाम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

आवाम्—'अस्मद्+औ' इस स्थिति में 'ङेप्रथमयोरम्' सूत्र से औकार के स्थान पर 'अम्' आदेश होने पर 'आव अद् अम्' बना। 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' सूत्र से आकारान्तादेश होने पर 'आव आ अम्' बना। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्व पर के स्थान पर दीर्घ तथा 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'आवाम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(यूय वय'आदेशसूत्र)

६७—यूयवयौजसि।७।२।९३॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि। यूयम्। वयम्॥

अर्थ—'युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को 'यूय' 'वय' आदेश हो, जस् के परे।

यूयम्—'युष्मद्+जस्' इस स्थिति में 'ङेप्रथमयोरम्' सूत्र से जस् के स्थान पर अम् आदेश करने पर 'यूयवयौजसि' सूत्र के द्वारा युष्मद् को मपर्यन्त 'यूय' आदेश होकर 'यूय अद् अम्' यह बना तब 'अहो गुणे' से पररूप होने पर 'शेषेलोपः' से दकार को लोप करके 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'यूयम्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

वयम्—'अस्मद्+जस्' इस स्थिति में 'ङेप्रथमयोरम्' सूत्र से जस् के स्थान पर अम् आदेश करने पर यूयवयौ जसि' सूत्र से अस्मद् के मपर्यन्त भाग को वय' आदेश होकर 'वय अद् अम्' यह बना। तब 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर 'शेषे लोपः' से दकार का लोप करके 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'वयम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

('त्व'—-म' आदेश सूत्र)

६८—त्वमावेकवचने—७।२।९७॥

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ॥

अर्थ—एकत्वार्थ प्रतिपादक युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को 'त्व'-'म' आदेश हो विभक्ति के परे।

(आकारान्तादेश सूत्र)

६९—द्वितीयाञ्च—७।२।८७॥

अनयोरात्स्यात् । त्वाम् । माम् ॥

अर्थ—युष्मद् अस्मद् को आकारान्तादेश हो, द्वितीया विभक्ति के परे।

त्वाम्—'युष्मद्+अम्' इस स्थितिमें 'त्वमावेकवचने' सूत्र से युष्मद् के मपर्यन्त भाग को विभक्ति (द्वितीया) के परे रहने पर 'त्व' आदेश हो गया तब 'त्व अद्+अम्' बना। 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'द्वितीयायाञ्च' से दकार के स्थान पर आकारान्तादेश होने पर 'त्व आ अम्' बना। तत्पश्चात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ होकर एवं 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'त्वाम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

माम्—'अस्मद्+अम्' इस स्थिति में 'त्वमावेकवचने' सूत्र से अस्मद् के मपर्यन्त भाग को (द्वितीया) विभक्ति के परे रहने पर 'म' आदेश हो गया तब 'म' अद् अम्' बना। 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'द्वितीयायाञ्च' से दकार के स्थान पर आकारान्तादेश होने पर 'म आ अम्' बना। तदनन्तर 'अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ होकर 'अभिपूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश हो गया तब 'माम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(नकारादेश सूत्र)

७०—'शसो नः'—७।१।२९॥

आभ्यां शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः[1] । आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् ॥

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् सब्द से पर शस् के आदि को नकार आदेश हो।

युष्मान्—'युष्मद्+शस्' इस स्थिति में 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'शसो न' से नकारादेश हुआ। तस्मादित्युत्तरस्य' से आदेश के सम्पूर्ण उत्तरवर्ती होना प्राप्त होने पर 'आदेःपरस्य' से आद्य (प्रारम्भ) में अकार के होने पर युष्मद्+न्स् हो गया। तब संयोगान्तस्य लोपः' से सकार के लोप होने पर 'द्वितीयायाञ्च' से अन्तिम दकार मात्र को आकार होने पर 'अकः सवर्णेदीर्घः' से पूर्व पर के स्थान पर दीर्घादेश होने पर 'युष्मान्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

अस्मान्—'अस्मद्+शस्' इस स्थिति में 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर 'शसो न' से नकारादेश होने पर तस्मादित्युत्तररस्य' से आदेश के उत्तरवर्ती होना प्राप्त होने पर 'आदेःपरस्य' से शस् के अकार के स्थान पर ही नकारादेश हुआ तब 'अस्मद् न् स्' बना। 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोग सज्ञक

---

1. 'शसो नः' सूत्र अम् आदेश का अपवाद सूत्र है क्योंकि इसके द्वारा नकारादेश होता है।

सकार का लोप होने पर 'द्वितीयायाञ्च' से दकार के स्थान पर आत्व तथा दीर्घ होने पर 'अस्मान्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(यकारादेश सूत्र)

७१—'योऽचि'—७।२।८९॥

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया॥

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द को यकार आदेश हो, अनादेश (बिना आदेश हुआ) अजादि विभक्ति के परे।

त्वया, मया—'युष्मद्+टा', और 'अस्मद्+टा' इस स्थिति में 'त्वमावेकवचने' सूत्र से मपर्यन्त युष्मद् को 'त्व' तथा अस्मद को 'म' आदेश करने पर 'त्व' अद् टा' तथा 'म अद् टा' ऐसा होने पर 'अतो गुणे' से पररूप होने पर टकार की इत्संज्ञा व लोप करने पर 'योऽचि' सूत्र के द्वारा यकारादेश प्राप्त हुआ किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त में दकार के आने पर सम्पूर्ण अद् भाग के स्थान पर यकार का आदेश हो गया तब 'त्व य् आ', 'म य् आ' ऐसा होने पर तथा परस्पर संयुक्त करने पर 'त्वया', 'मया' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

(अकारादेश सूत्र)

७२—युष्मदस्मदोरनादेशे—७।२।८६॥

अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः॥

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द के अङ्ग को आकार आदेश हो, अनादेश हलादि विभक्ति के परे।

'युवाभ्याम्', 'आवाभ्याम्'—'युष्मद्+भ्याम्', अस्मद्+भ्याम्' इस स्थिति में 'युवावौद्विवचने' सूत्र से मपर्यन्त 'युष्मद्-अस्मद्' शब्दों को क्रमशः युवादेश तथा अवादेश करने पर 'युव अद् भ्याम्' 'अव अद् भ्याम्' हो जाने पर 'अतो गुणे' से पररूपत्व करके 'युष्मदस्यदोरनादेशे' से दकार के स्थान पर आकारादेश करने पर तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ करके 'युवाभ्याम्, आवाभ्याम्' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

'युष्माभि', 'अस्माभि'—'युष्मद्+भिस्' 'अस्मद्+भिस्' इस स्थिति में 'यूष्मदस्मदोरनादेशे' से दकार के स्थान पर आकारदेश करने पर 'अकः सवर्णेदीर्घः' से दीर्घत्व होने पर सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग करके 'युष्माभिः' एवं 'अस्माभिः' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

('तुभ्य'-मह्य' आदेश सूत्र)

७३—तुभ्यमह्यौ ङयि—७।२।९५॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य युष्मदस्मदित्यस्य तुभ्य-मह्यौ स्तश्चतुर्थी विभक्तौ। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्॥

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्तभाग को 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हो 'ङे' विभक्ति के परे।

'तुभ्यम्' 'मह्यम्'—'युष्मद् + ङे', अस्मद् + ङे' इस स्थिति में 'तुभ्यमह्यौङयि' से मपर्यन्त युष्मद् को तुभ्य आदेश करने पर तथा अस्मद को मह्य आदेश करने पर 'तुभ्य अद् ङे' 'मह्य अद् ङे' ऐसा बना। तत्पश्चात्—'अतो गुणे' से पररूप करने पर 'शेषे लोपः' से अन्तिम दकार के लोप होने पर 'ङे प्रथमयोरम्' से 'ङे' के स्थान पर 'अम्' आदेश होने पर 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'तुभ्यम्' 'मह्यम्' ये दोनों अभीष्ट रूप निष्पन्न हुए।

(अभ्यमादेश सूत्र)

७४—भ्यसोऽभ्यम्—७।१।३०॥

आभ्यां परस्य। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम् ॥

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द से पर भ्यस् को 'अभ्यम्' आदेश हो।

युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्—'युष्मद् + भ्यस्' 'अस्मद् + भ्यस्' इस स्थिति में 'भ्यसोऽभ्यम्' इस सूत्र से भ्यस् के स्थान पर 'अभ्यम्' आदेश करने पर 'शेषे लोपः' से दकार सहित अकार (टिभाग) का लोप करके 'युष्म् अभ्यम्' 'अस्म् अभ्यम्' बना 'अज्झतीन०' इत्यादि से परस्पर मिलाने पर 'युष्मभ्यम्' तथा 'अस्मभ्यम्' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

('अत्' आदेश सूत्र)

७५—एकवचनस्य च—७।१।३२॥

आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत् ॥

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् से परे पञ्चमी विभक्ति (ङसि) को अत् आदेश हो।

त्वत्, मत्—'युष्मद् + ङसि' 'अस्मद् + ङसि' इस अवस्था में 'त्वयावेकवचने' सूत्र से युष्मद् तथा अस्मद् को मपर्यन्त 'त्व' एवं 'म' आदेश होने पर 'त्व अद् ङसि' 'म अद् ङसि' ऐसा रूप बना। तदनन्तर 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर तथा 'शेषे लोपः' से दकार का लोप हो गया तब 'एकवचनस्य च' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति ङसि को अत् आदेश होने पर 'त्व + अत्' 'य + अत्' बना। तत्पश्चात् 'अतो गुणे' से पररूप करने पर 'त्वत्' 'मत्' ये अभीष्ट रूप निष्पन्न एवं सिद्ध हुये।

(बहुवचनान्त 'अत्' आदेश सूत्र)

७६—पञ्चम्या अत्—७।१।३१॥

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात्। युष्मत्। अस्मत् ॥

अर्थ—युस्मद् अस्मद् से पर पञ्चमी के 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश हो।

युष्मत्, अस्मत्—'युष्मद् + भ्यस्', 'अस्मद् + भ्यस्' इस अवस्था में 'पञ्चम्या अत्' सूत्र से भ्यस् के स्थान पर 'अत्' आदेश होने पर 'शेषे लोपः' से दकार का लोप हो गया तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश करने पर 'युष्मत्' एवं 'अस्मत्' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

('तव'-'मम' आदेश सूत्र)

७७—'तवममौङसि'—७।२।९६।।

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि ।।

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को 'तव' 'मम' आदेश हो ङस् (षष्ठी विभक्ति एक वचन) के परे।

'तव', 'मम'—'युष्मद् + ङस्', अस्मद् + ङस्' इस अवस्था में 'तवममौङसि' सूत्र से युष्मद् के मपर्यन्त भाग को तवादेश करने पर इसी प्रकार अस्मद् के मपर्यन्त भाग को ममादेश होने पर 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'युष्मदस्मद्भ्यांङसोऽश्' सूत्र से ङस् के स्थान पर अश् करने पर शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर पुनः 'अतो-गुणे' से पररूप करके 'तव' 'मम' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

('अश्' आदेश सूत्र)

७८—युष्मदस्मद्भ्यांङसोऽश्—७।१।२७।।

तव । मम । युवयोः । आवयोः ।।

अर्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर 'ङस्' को 'अश्' आदेश हो।

'युवयोः', 'आवयोः'—'युष्मद् + ओस्' 'अस्मद् + ओस्' इस स्थिति में 'युवावौ द्विवचने' सूत्र से मपर्यन्त युष्मद् को युवादेश तथा अस्मद् को मपर्यन्त अवादेश करने पर 'अतो गुणे' से पररूपत्व होकर 'योऽचि' से दकार को यकार करने पर तथा संयुक्त करके एवं सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'युवयोः' 'आवयोः' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

('आकम्' आदेश सूत्र)

७९—साम आकम्—७।१।३३।।

आभ्यां परस्य 'साम' आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

अर्थ—युष्मद्-अस्मद्' से पर 'साम्' (सुट् सहित आम्) को 'आकम्' आदेश हो।

'युष्माकम्', अस्माकम्'—'युष्मद् + आम्' 'अस्मद् + आम्' ऐसी स्थिति में 'साम आकम्' सूत्र से आम् (षष्ठी वि० बहुवचन) विभक्ति के परे रहने पर उसके स्थान पर 'आकम्' आदेश करने पर 'युष्मद् + आकम्' एवं 'अस्मद् + आकम्' बना। उसके पश्चात् 'शेषे लोपः' से दकार का लोप होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घत्व होकर 'युष्माकम्', 'अस्माकम्' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

'त्वयि, मयि'—'युष्मद् + ङि' 'अस्मद् + ङि' इस स्थिति में 'त्वमावेकवचने' सूत्र से मपर्यन्त युष्मद् को 'त्व' आदेश तथा अस्मद को मपर्यन्त 'म' आदेश एवं 'अतो गुणे' से पररूपत्व करके 'त्वद् + ङि' 'मद् + ङि' यह बनने पर ङकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके 'योऽचि' से दकार के स्थान पर यकारादेश होने पर तथा परस्पर मिलाकर 'त्वयि' 'मयि' ये अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

युष्मासु, अस्मासु---'युष्मद्+सुप्' अस्मद्+सुप्' इस स्थिति में पकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'युष्मदस्मदोरनादेशे' सूत्र से दकार के स्थान पर आकारादेश होने पर तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घत्व होने पर 'युष्मासु' 'अस्मासु' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

('वाम्'-'नौ' आदेश सूत्र)

८०---युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वांनावौ---८।१।२०॥

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादि विशिष्टयोर्वांनावित्यादेशौस्तः।

अर्थ---पद से पर अपदादि में (श्लोक या ऋचा के चरण के आदि में नहीं) स्थित जो षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थ युष्मद्-अस्मद् शब्द उनको क्रम से 'वाम् और 'नौ' आदेश हों।

विशेष – अग्रिम तीन सूत्रों से बाध होने के कारण केवल सभी विभक्तियों के द्विवचन में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

('वस्'-'नस्' ('वः'-'नः') आदेश सूत्र)

८१---बहुवचनस्य वस्नसौ---८।१।२१॥

उक्तविधयोरनयोष्षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः।

अर्थ---पद से पर अपदादि में स्थित षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद् अस्मद् शब्द को क्रम से 'वस्' 'नस्' आदेश हो।

('ते'-'मे' आदेश सूत्र)

८२---तेमयावेक वचनस्य---८।१।२२॥

उक्तविधयोरनयोः षष्ठी-चतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः॥

अर्थ---पद से पर अपदादि में स्थित षष्ठी चतुर्थ्येकवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्द को 'ते' 'मे' आदेश हो।

('त्वा'---'मा' आदेश सूत्र)

८३---त्वामौ द्वितीयायाः---८।१।२३॥

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः॥

अर्थ---पद से पर अपदादि में स्थित युष्मद्-अस्मद् शब्द जब द्वितीया का एक वचनान्त हो तब क्रम से उनको 'त्वा' 'मा' आदेश हो।

विशेषः---निम्नलिखित उदाहरणीय दो पद्यों में उक्त चार सूत्रों में निर्दिष्ट आदेशों का प्रयोग प्रस्तुत किया गया है :---

श्रीशस्त्वाऽवतु[1] मापीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः॥१॥

---

१. **श्रीशो** विष्णुः त्वा---त्वाम् अवतु रक्षतु, इह लोके मा---माम् अपि अवतु। स श्रीशः ते-तुभ्यं मे मह्यमपि शर्म-सुखं दत्ताद् ददातु। स हरिः ते-तव, मे-मम अपि स्वामी अस्ति।
(उपर्युक्त अनूदित उदाहरण में द्वितीया---चतुर्थी---षष्ठी विभक्तियों के एक वचन के क्रमशः प्रयोग किये हैं।)

सुखं[1] वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः ।
सो[2]ऽव्याद्वोनः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः सनः ॥२॥

(एक वाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः) । एकतिङ् वाक्यम् ।

तेनेह न--ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीना ते ओदनं दास्यामि ।

अर्थ (१)--युष्मद्, अस्मद् शब्द को एकवाक्य में ही अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्-नौ' आदि आदेश होते है ।

(२) एक तिङ् घटित ही वाक्य होता है ।

(एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः) । धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा । तस्मै ते नम इत्येव ।। सुपात्[3], सुपाद् । सुपादौ ॥

अर्थ—ये जो वाम्, नौ, वस्, नस्, आदि आदेश कहे गये हैं, वे अनन्वादेश में विकल्प से और अन्वादेश में नित्य ही हों ।

युष्मद् शब्द के रूप--	**अस्मद् शब्द के रूप**---
त्वम्, युवाम्, यूयम् ।	अहम्, आवाम्, वयम् ।
त्वाम् (त्वा), युवाम् (वाम्) युष्मान् (वः) ।	माम् (मा) आवाम् (नौ) अस्मान् (नः) ।
त्वया युवाभ्याम्, युष्माभिः ।	मया, आवाभ्याम्, अस्माभिः ।
तुभ्यम् (ते) युवाभ्याम् (वां) युष्मभ्यम् (वः) ॥	मह्यम् (मे), आवाभ्याम् (नौ) अस्मभ्यं (नः) ।
त्वत्, युवाभ्याम, युष्मत् ।	मत्, आवाभ्याम्, अस्मत् ।
तव (ते); युवयोः (वाम्), युष्माकम् (वः)	मम (मे), आवयोः (नौ), अस्माकं (नः) ।
त्वयि, युवयोः युष्मासु ॥	मयि, आवयोः, अस्मासु ।

सुपात्, सुपाद्-- शोभनौ पादौ यस्य इति विग्रहः । 'सुपाद्+सु' इस स्थिति में अनुबन्ध लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से सकार का

---

१. ईशो हरिः वाम - युवाभ्याम्, नौ-आवाभ्यां सुखं ददातु । हरिः वाम्-युवयोः, नौ-आवयो रपि पती रक्षकोऽस्ति । अर्थात्—वह विष्णु तुम दोनों एवं हम दोनों के लिये सुख देवें और वह तुम दोनों व हम दोनों का रक्षक है ।
(उपर्युक्त अनूदित उदाहरण में उपर्युक्त सभी विभक्तियों के क्रम से द्विवचन के प्रयोग निर्दिष्ट हैं)

२. सः हरिः वः--युष्मान्, नः-अस्मान् अव्यात् पायात् । स हरिः वः-युष्मभ्यम्, नः-अस्माकं सेव्यो भजनीयः । अर्थात्—वह विष्णु तुम सबकी तथा हम सबकी रक्षा करें और वही तुम्हारे और हमारे लिये सेवा अथवा भजन के योग्य है ।

३. सुपात्—शोभने पादौ यस्य सः अर्थात्—जिसके सुन्दर चरण होते हैं, उसे सुपात् (सुपाद्) कहते हैं ।

लोप होने पर 'वावसाने' से दकार को चर्त्व तकार विकल्प से करने पर 'सुपात्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ। एवम् चर्त्वाभाव पक्ष में 'सुपाद्' यह रूप निष्पन्न हुआ।

सुपादौ—'सुपाद्+औ' इस स्थिति में क्विप् प्रत्ययान्त सुपात् या सुपाद् शब्द के कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा विभक्ति के द्विवचन के प्रत्यय अथवा 'औ' विभक्ति का विधान हुआ। तदनन्तर 'अज्झीन परेण संयोज्यम्' से स्वर-हीन को पर अर्थात् 'औ' से परस्पर मिलाने पर 'सुपादौ' यह अभीष्ठ रूप सिद्ध हुआ।

('पद' आदेश सूत्र)

८४—पादःपत्—६।४।१३०॥

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः। सुपदः। सुपदा। सुपद्भ्याम्॥ अग्निमत्, अग्निमद्, अग्निमथौ। अग्निमथः॥

अर्थ—'पाद्' शब्दान्त जो भसंज्ञक अंग तदवयव जो 'पाद्' शब्द उसको 'पद्' आदेश हो।

सुपदः—'सुपाद्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप तब 'सुपाद्+अस्' बना यचिभम् से भ संज्ञा एवं 'पादःपत्' से सुपाद् के अंगावयव पाद् को पदादेश होने पर 'सुपत्+अस्' बना। तदन्तर सकार को रुत्वविसर्ग एवं 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलकर 'सुपदः' यह अभीस्ट रूप सिद्ध हुआ।

सुपदा—'सुपाद्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार का लोप करके 'सुपाद्'+आ' बना। 'यचि भं' से भसंज्ञा होकर 'पादःपत्' सूत्र से पदादेश करने पर 'सुपत्+आ' बना। तत्पश्चात् 'झलां जशोऽन्ते' से तकार को दकार 'जश्त्व करके एवं परस्पर मिलाकर 'सुपदा' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सुपद्भ्याम्—'सुपाद्+भ्याम्' इस स्थिति में 'सुपाद्' शब्द के अंङ्गावयव पाद् को 'पादःपत्' सूत्र से पदादेश करने पर 'सुपत्+भ्याम्' बना। तब 'झलांजश् झशि' से अपदान्त (जश्त्व) सन्धि कार्य करने पर तकार को दकार हो गया। तदनन्तर परस्पर 'अज्झीनं०' इत्यादि से मिलाने पर 'सुपद्भ्याम्' अभीष्ट रूप निष्पन्न हुआ।

अग्निमत्, अग्निमद्—(शम्यादिमन्थनेन[1] योऽग्नि मथ्नाति-उत्पादयति कोऽग्निमादित्युच्यते) 'अग्निमथ्+सु' इस स्थिति में उकार का अनुबन्ध लोप करके 'अग्निमथ्—स्'। 'खरि च' से चर्त्व (तकार) करने पर 'अग्निमत्—स्' बना। 'हल्ङ्याब्भ्यो' से सकार का लोप एवं 'वावसाने' से विकल्प से चर्त्वाभाव के पक्ष में 'अग्निमद्' ये रूप सिद्ध हुए।

---

१. जो शमी आदिक अरणीमन्थन से अग्नि को मथता या उत्पन्न करता है उसे 'अग्निमत्' कहते हैं।

अग्निमथौ—'अग्निमथ+औ' इस स्थिति में 'कर्मण्यण्' से उपपद समास वाले उक्त शब्द की कृत्तद्धित 'समासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा द्वि व० के प्रत्यय 'औ' पर में आने पर 'अञ्चीन०' इत्यादि से मिलने पर 'अग्निमथौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

अग्निमथः—'अग्निमथ्+जस्' इस स्थिति में अग्निमथ् शब्द की उपपद समास होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी। 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप करने पर 'अग्निमथ्+अस्' यह रूप बना। तब 'ससजुषोरुः' से रेफ तथा 'खरवसानयो-विसर्जनीयः' से विसर्ग होकर 'अग्निमथः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(उपधानकार लोप विधि सूत्र)

८५. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति—६।४।२४॥

हलन्तानामनिदिताम् अंगानाम् उपधाया नस्य लोपः किति ङितिनुम् संयोगान्तस्य लोपः। नस्य कुत्वेन ङ्॥ प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः।

अर्थ—हलन्त अनिदित् अंग के उपधानकार का लोप हो कित् ङित् प्रत्यय के परे।

प्राङ्[1]—'प्र+अन्चु' इस अवस्था में 'ऋत्विग्दधृक्०' से क्विन् प्रत्यय परे रहने पर और इसके सर्वापहार लोप होने पर प्रत्यय लक्षण से अनिदितां हलउपधायाः क्ङिति' से उपधा के नकार का लोप हो जाने पर 'प्र+अच्' ऐसा स्थित रहने पर 'कृदतिङ्' से क्विन् प्रत्यय की कृत् संज्ञा होने पर 'सु' बिभक्ति में आने पर 'प्र+अच्+सु' 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थाने-ऽधातोः' से 'नुम्' आगम होने पर तथा उम् के चले जाने पर एवं मित् होने से आगम को अन्तिम अच् से परे लगने पर 'प्र+अन् च्+सु' बना। सकार के उत्तरवर्ती उकार का लोप तथा 'हल्ङ्या०' से सकार का लोप एवं 'संयोगान्तस्यलोपः' से चकार के लोप होने 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से नकार को नासिका स्थान के साम्य होने पर (कुत्व) ङकार होने पर 'अकः सवर्णदीर्घः' से दीर्घ होने पर 'प्राङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राञ्चौ—'प्र+अच्+औ' इस स्थिति में सर्वनाम स्थान संज्ञा के 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम करके 'प्र+अन् च्+औ' बना। तब 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से नकार को कुत्वङकार तथा परसवर्ण ञकार होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ करके 'अञ्चीनं०' से मिलाकर 'प्राञ्चौ' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राञ्चः—'प्र+अच्+जस्' इस स्थिति में सर्वनाम स्थान संज्ञा होने से 'नुम्' का आगम करके प्र+अ न् च्+जस् बना। 'चुटू' से जकार का लोप तथा सवर्ण पदे

---

१. प्रकर्षेण अञ्चतीति 'प्राङ्' (प्र+अञ्चु>गतिपूजनयोः+क्विन्) श्रेष्ठ पूजक। अथवा पूर्वे दिग्देशकालेषु प्राङ् शब्दः प्रयुज्यते। भक्तोऽपि प्राङ् इति प्राचीनार्थ कोऽपिशब्दो यम्।

रहने पर नकार को ङकार (परसवर्ण) एवं दीर्घ करके और सकार को रुत्व को विसर्ग करने पर 'प्राञ्चः' यह सिद्ध हुआ।

(भसंज्ञक अकार लोप सूत्र)

८६. अचः—६।४।१३८॥

लुप्त नकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः॥

अर्थ—लुप्त नकारक अञ्च धातु के भसंज्ञक अकार का लोप हो।

(पूर्ण अण् दीर्घत्व सूत्र)

८७. चौ—६।३।१३८॥

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यक्। प्रत्यञ्चौ। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्॥ उदङ्। उदञ्चौ॥

अर्थ—लुप्ताकार-नकार 'अञ्च' धातु के परे पूर्व अण् को दीर्घ हो।

प्राचः—'प्र+अच्+शस्' इस स्थिति में शकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'अचः' से अच् के अकार का लोप हो गया। तदनन्तर 'चौ' सूत्र से 'प्र' के अकार का दीर्घ होकर एवं संयुक्त होने पर सकार को रुत्व विसर्ग करके 'प्राचः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राचा—'प्र+अच्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार का अनुबन्ध लोप होकर 'प्र+अच्+आ' बना। तब 'अचः' से अच् के अकार का लोप 'चौ' से प्र के अकार को दीर्घत्व तथा 'अज्झीनं०' इत्यादि से संयुक्त करके 'प्राचा' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राग्भ्याम्—'प्र+अच्+भ्याम्' इस स्थिति में पर में यकारादि तथा अजादि प्रत्यय की अभाव होने से भसंज्ञा नहीं हुई अतः अच् के अकार का लोप नहीं हुआ। तब अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ तथा 'चोः कुः' से चकार को ककार एवं 'झलां जश् झशि' से 'जश्त्व' करके गकार होनें पर तथा संयुक्त करके 'प्राग्भ्याम् यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्रत्यङ्:[1]—,प्रति+अन् च्' इस अवस्था में 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय परे रहने पर एवं उसका सर्वापहार लोप होने पर 'इको यणचि' से यण् करने पर 'अनिदितां हल उपधायाक्ङिति' सूत्र से नकार के लोप करने पर 'प्रत्य च्+सु' बना। 'उगिदचां०' इत्यादि सूत्र से 'नुम्' का आगम एवं उम् का लोप होकर 'प्रत्यन् च्+सु' बना तब उकार का लोप 'हल्ङ्या०' इत्यादि से सकार का लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' से चकार का लोप एवं 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से नकार को कुत्व ङकार करके ,प्रत्यङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

१. पश्चिमदिग्देशकालभवः प्रत्यक् प्रतीचीनश्चोच्यते अर्थात् पश्चिम दिशा देश स्थान और समय से उत्पन्न प्रत्यङ् शब्द अमरादि कोषों में प्रयुक्त होता है।

प्रत्यञ्चौ—'प्रति + अन् च्' इस अवस्था में 'ऋत्विग्दधृक्॰' इत्यादि से क्विन् प्रत्यय परक होने से एवं उसके सर्वापहार लोप हो जाने पर 'इको यणचि' से यण् करके 'प्रत्यन् च् + औ' तथा 'प्रत्यन् च् + औ' इस स्थिति में 'अनिदितांहल॰' इत्यादि सूत्र से नकार का लोप बना। तब 'प्रत्यच् + औ' इस अवस्था में सर्वनाम स्थान संज्ञा होने से 'उगिदचां॰' से 'नुम्' का आगम उसका अनुबन्ध लोप होकर 'प्रत्यन् च् + औ'। तदनन्तर नकार को परसवर्ण ञकार एवं मिलाकर 'प्रत्यञ्चौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्रतीचः—'प्रति अन् च् + शस्' इस अवस्था में 'अनिदितां॰' इत्यादि से नकार लोप, शकार की इत्संज्ञा व लोप हो जाने पर 'यचिभम्' से भसंज्ञा होने पर 'अचः' से अकार के लोप होने पर तथा 'चौ' से पूर्व अण् को दीर्घ करने पर एवं सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'प्रतीचः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्रत्यग्भ्याम्—'प्रति + अन् च् + भ्याम्' इस स्थिति में 'अनिदितां॰' इत्यादि सूत्र से नकार का लोप तथा 'इकोयणचि' से इकार के स्थान पर यकारादेश करके 'प्रत्यच् + भ्याम्' बना। तब 'चोः कुः' से चकार को कवर्ग (ककार) होने पर एवं 'झलां जश् झशि' से ककार को गकार होकर 'प्रत्यग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

उदङ्—'उद् + अन् च् + सु' इस स्थिति में 'अनिदितां॰' इत्यादि से नकार का लोप होने पर 'उगिदचां॰' इत्यादि से 'नुम्' का आगम तथा उम् का लोप करके एवं 'हल्ङ्या॰' से सुलोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से चकार का लोप होकर और नकार को 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कवर्ग ङकार करके 'उदङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

उदञ्चौः—'उद् + अन् च् + औ' इस स्थिति में 'अनिदितां॰' इत्यादि से नकार का लोप होकर, 'उगिदचां' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने के कारण 'नुम्' का आगम उम् का लोप होकर तथा नकार को चवर्ग का परसवर्ण ञकार होने पर एवं परस्पर संयुक्त होकर 'उदञ्चौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

('ईत्' अदेश सूत्र)

८८. 'उद ईत्— ६।४।१३९॥

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चते र्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्॥

अर्थ—उद् शब्द के पर लुप्त नकारक 'अञ्च' धातु सम्बन्धी भसंज्ञक अकार को 'ईत्' आदेश हो।

उदीचः—'उद् + अन् च् + जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से नकार का लोप तथा 'यचिभम्' से भसंज्ञा एवं 'अनदितां॰' इत्यादि से नकार का लोप हो गया तब 'उद् +

अच्+अस्' बना। तदनन्तर 'उद ईत्' सूत्र से भसंज्ञक अकार को 'ईत्' आदेश करने पर 'उद्+ईत्+च्+अस्' बना। तत्पश्चात् तकार की इत्संज्ञा व लोप करके एवं सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'उदीचः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

उदीचा—'उद्+अन् च्+टा' इस स्थिति में 'चुटू' से टकार का लोप एवं 'यचिभं' से असंज्ञा हो गयी। 'अनिदितां०' इत्यादि से नकार का लोप एवं 'उदईत्' से भसंज्ञक अकार को ईत् आदेश तथा तकार की इत्संज्ञा व लोप करके और परस्पर मिलाकर 'उदीचा' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

उदग्भ्याम्—'उद्+अन् च्+भ्याम्' इस स्थिति में 'अनिदितां०' से नकार का लोप तथा 'चोःकुः' से चकार को ककार हो गया तथा 'झलां जश झशि' से ककार को गकार एवं परस्पर मिलकर 'उदग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

('समि' आदेश सूत्र)

८९ 'समः समि—६।३।९३॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ। 'सम्यङ्'। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्॥

अर्थ—व प्रत्ययान्त (क्विन् प्रत्ययान्त) 'अञ्च' धातु के सम को 'समि' आदेश हो।

सम्यङ्—'सम् अन् च्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्यय करके 'समः समि' सूत्र से 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश करने पर 'इको यणचि' से यण् करने पर 'सम्यन् च क्विन्' इस स्थिति में क्विन् का सर्वापहार लोप होने पर 'अनिदितां०' इत्यादि सूत्र से नकार लोप होने पर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी 'सु' विभक्ति का विधान हुआ तब 'सम्यच्+सु' बना। 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इत्यादि से उकार तथा सकार का लोप तथा 'उगिदचां०' से नुम् का आगम एवं 'संयोगान्तस्य लोपः' से चकार का लोप और नकार का कुत्व ङकार होने पर 'सम्यङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सम्यञ्चौ—'सम् अन् च्' इससे क्विन् प्रत्यय करके 'समः समि' सूत्र से सम् के स्थान पर 'समि' आदेश करने पर 'इकोयणचि' से यण् हो गया। तब 'सम्यन् च् क्विन्' इस अवस्था में 'क्विन्' का सर्वापहार लोप एवं 'अनिदितां०' इत्यादि से नकार का लोप तथा कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा करके 'औ' विभक्ति लाने पर 'सम्यच्+औ' इस दशा में 'नुगिदचां०' से नुम् का आगम तथा उम् का अनुबन्ध लोप करके एवं नकार को 'स्तोश्चुना श्चुः' से ञकार करके और परस्पर मिलाने पर 'सम्यञ्चौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

समीचः—'सम् अन् च् शस्' इस दशा में शकार की इत्संज्ञा तथा लोप करके एवं 'अनिदितां०' से नकार का लोप होने पर 'समः समि' से 'समि' आदेश होकर समि अच् अस्' बना। तत्पश्चात् 'यचिभम्' से भसंज्ञा होने पर 'अचः' से अकार लोप करके 'चौ' से पूर्व अण् को दीर्घत्व और सकार को रुत्व विसर्ग होने पर 'समीचः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सध्र्यग्भ्याम्:—'सम् अन् च' इस स्थिति में क्विन् प्रत्यय करके तथा उसका सर्वापहार लोप एवं 'समः समि' सूत्र से 'सम्' स्थान पर समि आदेश करने पर 'समि अन् च्' 'अनिदितां०' से नकार का लोप तथा 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से चकार को ककार (कुत्व) कर 'सम्यक्+भ्याम् बना। 'झलां जश् झशि' से जश्त्व करने पर ककार को गकार होकर 'सम्यग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

('सध्रि' आदेश सूत्र)

९०. **'सहस्य सध्रिः'—६।३।९५।।**

तथा। सध्र्यङ्। सध्र्यञ्चौ। सध्रीचः। सध्र्यग्भ्याम्।

अर्थ—'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातु के परे 'सह' को सध्रि आदेश हो।

सध्र्यङ्[1]—'सह् अन् च्' इस स्थिति में 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि से क्विन् प्रत्यय करने पर 'अनिदिताम्०' से नकार लोप तथा क्विन् प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो गया। इसके कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सु' विभक्ति के आने पर 'सह् अक्+सु, इस स्थिति में 'सहस्य सध्रिः' से 'सध्रि' आदेश एवं यण् करने पर सध्र्यच्+सु 'उगिदचां०' से 'नुम्' का आगम करने पर एवं उम् का अनुबन्ध लोप होकर 'सध्रन्+च्+सु' 'हल्ङ्यादि०' से सु लोप करके चकार का संयोगान्त लोप तथा नकार का 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व अथवा ङकार करने पर 'सध्र्यङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

('तिरि' आदेश सूत्र)

९१. **तिरसस्तिर्यलोपे—६।३।९४।।**

अलुप्ताऽकारेऽञ्चतौ व प्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिरश्चः। तिरश्चः। तिर्यग्भ्याम्।।

अर्थ—अलुप्ताकारक 'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातु के परे 'तिरस्' को तिरि' आदेश हो।

तिर्यङ्[2]:—तिरस् अन् च्' इस स्थिति में 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर तथा उसके सर्वापहार लोप होने पर 'अनिदिताम्०' सूत्र से नकार के लोप होने पर 'तिरसस्तिर्यलोपे' सूत्र से 'तिरस्' को तिरि' आदेश करके 'इको यणचि' से यण् करने पर कृदन्त होने प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सु' विभक्ति को विधान किया तब 'तिर्यच्+सु' बना। तत्पश्चात् सर्वनाम संज्ञा होने से 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम् का आगम 'उम्' का अनुबन्ध लोप, 'हल्ङ्यादि०' से सु लोप 'संयोगान्त०' से चकार लोप करके 'तिर्यन्' बना। 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से नकार को कुत्व ङकार करने पर 'तिर्यङ् यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

१. यः सहाऽञ्चति स सध्र्यङ (सहचरः)।
२. स तिर्यङ् यस्तिरोऽञ्चति—पशुपक्ष्यादिः।।

तिर्यञ्चौ—'तिरस् अन् च्' इस स्थिति में 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से नकार का लोप, 'तिरसस्तिर्यलोपे' से तिरस् को 'तिरि' आदेश, 'इको यणचि' से यण् कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा द्विवचन में 'औ' विभक्ति सम्बन्धी प्रत्यय आने पर 'तिर्यच् औ' बना। 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' आगम एवं उम् का अनुबन्ध लोप तथा 'स्तोश्चुनाश्चु:' से नकार को ञकार (चवर्ग) होने तथा परस्पर मिलाकर 'तिर्यञ्चौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

तिरश्चः—'तिरस्+अञ्च्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्ययान्त उक्त शब्द से 'शस्' विभक्ति आने पर 'तिरस्+अञ्च्+शस्' बना। तब 'अनिदितां०' इत्यादि से नलोप तथा शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'तिरस् अच्+अस्' बना। तत्पश्चात् 'यचिभ०' से भसंज्ञा होने से 'अचः' से अकार लोप 'श्चुत्व' से सकार को शकार और विभक्ति के सकार को रुत्व विसर्ग करने पर 'तिरश्चः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

तिर्यग्भ्याम्—तिरस्+अन् च्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्ययान्त शब्द से कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा व भ्याम् विभक्ति आने पर तथा तिरसस्तिर्यलोपे' सूत्रसे तिरस् को 'तिरि' आदेश करने पर 'तिरि अन् च्+भ्याम् बना। 'अनिदितां०' इत्यादि से नकार लोप, 'इको यणचि' से यण् होने पर 'तिर्यच्+भ्याम्' बना। तत्पश्चात् क्विन् प्रत्ययस्य कुः' सूत्र से चकार को ककार एवं 'झलां जश् झशि' से जश्त्व गकार होने पर 'तिर्यग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(नलोप निषेध सूत्र)

९२. नाञ्चेः पूजायाम्—६।४।३०॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाभावदल्लोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु॥ एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः॥ क्रुङ्। क्रुङ्भ्याम्॥ पयोमुक्। पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्। उगित्वान्नुमि—

अर्थ—पूजार्थक 'अञ्च्' धातु के उपधासम्बन्धी नकार का लोप नहीं हो।

प्राङ्—'प्र अन् च्' इस स्थिति में 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय वाले उक्त शब्द के क्विन् का सर्वापहार लोप होने पर 'अनिदितां०' से नलोप प्राप्त हुआ। किन्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' से नलोप का निषेध होने पर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा एवं 'सु' विभक्ति विधान हुआ तब 'प्र अन् च्+सु' बना। तदनन्तर 'हल्ङ्या०' से सु का लोप होने पर तथा 'संयोन्तस्य०' से चकार का लोप हो जाने पर एवं 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से नकार का कवर्ग ङकार हो गया। इस प्रकार 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश करके 'प्राङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राञ्चौ—'प्र अन् च्' इस स्थिति में 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि से क्विन् प्रत्ययान्त शब्द के क्विन् का सर्वापहार लोप होने पर 'अनिदितां०' से नलोप प्राप्त हुआ। किन्तु नाञ्चेः पूजायाम्' से नलोप का निषेध हो गया। तब प्रातिपदिक संज्ञा

होने से 'औ' प्रत्यय का विधान किया गया तो 'प्र अन् च्+औ' बना। तदनन्तर 'स्तोश्चुना०' इत्यादि से नकार को ञकार एवं दीर्घ तथा 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाकर 'प्राञ्चौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राञ्चः—'प्र+अन् च्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो जाने से इसका 'अनिदि०' से नलोप प्राप्त हुआ किन्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' से उसके लोप का निषेध हो गया एवं प्रातिपदिक संज्ञा करके 'जस्' विभक्ति के लाने पर 'चुटू' से जकार का लोप होकर 'प्र अन् च्+अस्' बना 'स्तोश्चु०' इत्यादि से नकार को ञकार तथा सकार को रुत्व विसर्ग एवं दीर्घ होकर 'प्राञ्चः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राङ्भ्याम्—'प्र+अन्च्+भ्याम्' इस स्थिति में 'अनिदितां०' इत्यादि से नकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' के नकार के लोप का निषेध हो जाने पर संयोगान्तस्य लोपः से चकार का लोप एवं 'क्विन् प्रत्ययस्यकुः' से नकार का ङकार तथा 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाकर 'प्राङ्भ्याम्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

प्राङ्क्षु—प्र पूर्वक 'अञ्च्' धातु से 'ऋत्विग्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय परे रहने पर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा नकार लोप प्राप्त किन्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' से लोप का निषेध एवं प्राञ्च् शब्द से सुप् प्रत्यय लगाने पर 'प्राञ्च्+सुप्' बना। पकार की इत्संज्ञा एवं लोप हो गया तथा चकार का संयोगान्त लोप करके अनुस्वार एवं परसवर्ण के अभाव में नकार की स्थिति में 'प्रान सु' यह बना। तत्पश्चात् 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से नकार को कवर्ग ङकार होने पर 'ङणो कुक्' से कुगागम तथा षत्व होने पर 'चयो द्वितीयाः' से ककार का खकार करके 'प्राङ्खषु' एवं ककार के अभाव में कृष्संयोगेक्षः' से 'प्राङ्क्षु' तथा कुक् के आगम के अभाव में 'प्राङ्षु' ये तीन रूप सिद्ध हुए।

विशेष—एवम् पूजा के पक्ष में प्रत्यङ्भ्यादि के तीन रूप जानने चाहिए।

कुङ्[1]—'कुञ्च-कौटिल्याल्पीभावयोः' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर उसके सर्वापहार लोप होने पर 'अनिदितां०' से नकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु उक्त रूप से ही निपातन होने से नलोप का अभाव तथा कृदन्त होने से प्रतिपदिक संज्ञा एवं 'सु' प्रत्यय का विधान हुआ तब 'कुञ्च्+सु' बना। तब 'हल्ङ्यादि' से सुलोप 'संयोगान्त०' से चकार का लोप तथा ञकार का कुत्व (ङकार) करने पर 'कुङ्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

कुञ्चौ—'कुञ्च्+औ' इस स्थिति में क्विन् प्रत्यान्त शब्द को अनिदिता०' नकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'ऋत्विग्दधृक्' इत्यादि से नियातन होने से न लोप तथा कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'औ' विभक्ति का विधान किया तब

---

1. वकजातीयः पक्षिविशेषः 'कुङ्' इत्युच्यते।

क्रुञ्च्+औ' रूप बना। तत्पश्चात् 'अज्झी नं०' से परस्पर मिलाकर 'क्रुञ्चौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

क्रुङ्भ्याम्—कुञ्च् धातु से क्विन् प्रत्यय तथा उसका सर्वापहार लोप एवं 'ऋत्विगदधृक्०' इत्यादि सूत्र से नलोप का अभाव तथा कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'भ्याम्' विभक्ति का विधान किया। तब 'क्रुञ्च्+भ्याम्' बना। 'संयोगान्तस्यलोपः' से चकार का लोप तथा 'चोः कुः' से भकार को नकार को ङकार करके एवं परस्पर मिलाकर 'क्रुङ्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पयोमुक्, पयोमुग्[1]—'पयोमुच्+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि०' इत्यादि से सुलोप करने पर 'चोः कुः' सूत्र से चकार को कवर्ग होकर तथा 'झलांजशोऽन्ते' से जश्त्व गकार एवं 'वावसाने' से विकल्प से गकार को ककार होने पर 'पयोमूक्, पयोमुग्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पयोमुचौ—'पयोमुच्+औ' इस स्थिति में स्वरहीन वर्ण के परे स्वर होने तथा उसको 'अज्झीन परेणसंयोज्यम्' नियम से परस्पर संयुक्त करने पर 'पयोमुचौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पयोमुग्भ्याम्—'पयोमुच्+भ्याम्' इस स्थिति में 'चोः कुः' से चवर्ग को कवर्ग या ककार करने पर 'पयोमुक्+भ्याम्' बना। तत्पश्चात् 'झलां जश् झशि' से ककार को झश् भकार परे रहने पर गकार (जश्त्व) हो गया तब 'पयोमुग्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(उपधा दीर्घत्व विधि सूत्र)

९३. सान्तमहतः संयोगस्य—६।४।१०।

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्। महान्तौ। महान्तः। हे महन्। महद्भ्याम्॥

अर्थ—सान्तसंयोग का और 'महत्' शब्द का जो नकार उसकी उपधा को इस स्थिति में दीर्घ हो जाता है जब उसके परे सम्बुद्धि रहित सर्वनाम स्थान संज्ञक विभक्ति होती है।

महान्—'महत्+सु' इस स्थिति में सकार उत्तरवर्ती उकार की इत्संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इत्यादि से सकार का लोप हो गया। तदनन्तर 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' आगम करके तथा 'उम्' का अनुबन्ध लोप होने पर मित् होने से अन्तिम अच् के परे नुमागम हुआ तब 'महन्त्' यह बनने पर 'सान्तमहतः संयोगस्य' से उपधा के दीर्घ होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होने पर 'महान्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

महान्तौ—'महत्+औ' इस स्थिति में महत् शब्द से परे 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञक विभक्ति रहने पर 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम उम्

---

१. पयोमुग् मेघः।

का अनुबन्ध लोप तथा 'सान्तमहतः संयोगस्य' से उपधा को दीर्घ करने पर 'महान् त् +औ' बना। तब 'अज्झीनं०' इत्यादि से मिलाने पर 'महान्तौ अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

महान्तः—'महत्+जस्' इस स्थिति में 'चुटु' से जकार का अनुबन्ध लोप करके 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम तथा उम्' का अनुबन्ध लोप होकर 'महन् त्+अस्' बना। तत्पश्चात् 'सान्त-महतः संयोगस्य' से उपधा को दीर्घ करके एवं सकार को रुत्व विसर्ग होकर तथा परस्पर मिलाकर 'महान्तः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

हे महन्—'हे महत्+सु' इस स्थिति में उकार का अनुबन्ध लोप। 'सुडनपुं०' इत्यादि से सर्वनाम स्थान संज्ञा, 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम उम् का लोप करके 'हे महन् त्+स्' 'हल्ङ्या०' इत्यादि से सकार का लोप तथा 'संयोगान्त०' इत्यादि से तकार लोप एवं सम्बद्धि में उपधा के दीर्घ का 'सान्तमहतः संयोगस्य' सूत्र से निषेध होने पर 'हे महन्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

महद्भ्याम्—'महत्+भ्याम्' इस स्थिति में सर्वनाम स्थान संज्ञा के अभाव में नुम् के आगम का निषेध हो गया तथा 'झलां जश् झशि' से तकार को अपदान्त जश्त्व अथवा दकार हो जाने पर एवं परस्पर मिलाने पर 'महद्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(उपधा दीर्घत्व विधि-सूत्र)

९४. अत्वसन्तस्य चाऽधातोः—६।४।१४।

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। उगित्वान्नुम्। धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्। भातेर्डवतुः। डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। शत्रन्तस्य भवन्।

अर्थ—अत्वन्त की उपधा को और धातु भिन्न जो असन्त उसकी भी उपधा को दीर्घ हो सम्बुद्धि भिन्न 'सु' के परे।

धीमान्[1]—'धीमत्+सु' इस स्थिति में 'सडनपुंसकस्य' सूत्र से सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर 'उगिदचां०' इत्यादि 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का अनुबन्ध लोप एवं मित् होने से अन्तिम अच् के परे 'अत्वसन्तस्य०' इत्यादि सूत्र से उपधा को दीर्घ हो गया तब 'धीमान् त्+सु' बना। तदनन्तर 'हल्ङ्यादि०' इत्यादि से सुलोप तथा संयोगान्त तकार का लोप जाने पर 'धीमान्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

धीमन्तौ—'धीमत्+औ' इस स्थिति में 'सुडनपुं०' इत्यादि से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'उगिदचां० इत्यादि से 'नुम्' का आगम होकर 'उम्' का अनुबन्ध लोप हो गया तब धीमन् त्+औ' बना। तदनन्तर 'अज्झीनं०' इत्यादि से परस्पर मिलाने पर 'धीमन्तौ' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

1. बुद्धिमान्।

धीमन्तः—'धीमत्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा व लोप तथा 'सुड०' इत्यादि से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'उगिदचां०' यत्यादि के 'नुम्' का आगम एवं 'उम्' का अनुबन्ध लोप हो जाने पर 'धीमन्त्+अस्' बना। तत्पश्चात् सरकार को रुत्व विसर्ग होकर तथा 'अज्झीनं०' इत्यादि से परस्पर मिलाकर 'धीमन्तः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

हे धीमन्—'हे धीमत्+सु' इस स्थिति में 'सुडन०' इत्यादि से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का अनुबन्ध लोप करके 'हे धीमन्त्+सु' बना। तब 'हल्ङयाडि०' से सुलोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार लोप करके 'हे धीमन्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

भवान्—'भवत्+सु' इस स्थिति में भू धातु से शतृ प्रत्यायान्त अर्थात् कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर तथा 'सु' विभक्ति लगाने पर एनम् सुडन-पुंसकस्यं' से सर्वनामस्थान संज्ञा की। तब 'उगिदचां० इत्यादि से 'नुम्' का आगम करके 'उम्' का अनुबन्ध लोप होकर 'भवन् त्+सु' बना तब 'अत्वसन्तस्योपधायाः०' इत्यादि से उपधा को दीर्घ, 'संयोगान्त०' से तकार लोप एवं 'हल्ङचादि०' इत्यादि से सुलोप करने पर 'भवान' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—'शतृ' अन्त वाले भवत् शब्द के पुंलिग में उपधा को दीर्घ न होने से 'भवान्' यह रूप बनेगा।

भवन्तौ—'भू+अत्'+औ' इस स्थिति में भू धातु से लट् लकार के स्थान पर शतृ प्रत्यय तथा उसके स्थान पर अत् करके एवम गुण, शप् तथा पदरूपादि करके भवत्' शब्द के कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'औ' विभक्ति लगायी। तत्पश्चात् 'सुडन०' इत्यादि से सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम एवं 'उम्' का अनुबन्ध लोप होने पर 'भवन् त्+औ' बना अज्झीनं०' इत्यादि से मिलाने पर 'भवन्तौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

भवन्तः—'भवत्+जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा व लोप करके भवत्+अस्' यह बनने पर 'सुडनपुं०' से सर्वनाम स्थान संज्ञा तथा 'उगिदचां० से 'नुम्' का आगम एवम् उम् का अनुबन्ध लोप होने पर 'भवन्त्+अस्' बना। तदनन्तर सकार को रुत्व विसर्ग हो जाने पर तथा 'संयोगान्त०' से तकार का लोप होने पर 'भवन्तः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(अभ्यस्त संज्ञा सूत्र)

६५. उभे अभ्यस्तम्—६।१।५॥

षष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः।

अर्थ—षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरण में जो द्वित्व विधान किये गये हैं, वे (दोनों) द्वित्व समुदित (सम्मिलित) अभ्यस्तसंज्ञक हों।

('नुम्' निषेधक सूत्र)

९६. नाभ्यस्ताच्छतुः—७।१।७८॥

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न । ददत्,[1] ददद् । ददतौ । ददतः ॥

अर्थ—अभ्यस्तसंज्ञक से पर 'शतृ' को 'नुम्' का आगम नहीं हो ।

ददत्, ददद्:—'ददत्+सु' इस स्थिति में उभे अभ्यस्तम् से 'अभ्यस्तसंज्ञा' होने पर 'उगिदचां॰' इत्यादि से 'नुम्' का आगम प्राप्त हुआ किन्तु 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से शतृ प्रत्ययान्त ददत् (दा+शतृ) होने से 'नुम्' के आगम का निषेध हो गया एवम् 'हलङ्यादि' से सुलोप होने पर 'सुप्तिङन्तं पदम्' के द्वारा पद संज्ञा हो गयी तब 'झलांजशोन्ते' से जश्त्व अर्थात् तकार को दकार होकर 'ददद्' रूप बना तथा 'वावसाने' से पक्ष में चर्त्व अथवा तकार रहने पर 'ददत्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए ।

ददतौ—'ददत्+औ' इस स्थिति में 'उभे अभ्यस्तम्' से अभ्यस्तम् से अभ्यस्त संज्ञा होने पर उगदचां॰' इत्यादि से नुम् का आगम प्राप्त हुआ किन्तु 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से शतृ प्रत्ययान्त शब्द के होने से उसका निषेध हो गया । तदनन्तर औ विभक्ति के पर में होने पर 'अज्झीनं॰' इत्यादि से मिलने के पश्चात् 'ददतौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

ददतः—'ददत्+जस्' इस स्थिति में 'उभे अभ्यस्तम्' से अभ्यस्त संज्ञा होने पर 'उगिदचां॰' इत्यादि से नुम् का आगस प्राप्त हुआ किन्तु 'नाभ्यस्ताच्छतु' से शतृ प्रत्ययान्त शब्द के कारण नुम् का निषेध हो गया, तदनन्तर चुटू से जकार की इत्संज्ञा तथा लोप होकर सकार को रुत्व विसर्ग हो गया । इस प्रकार परस्पर मिलकर 'ददतः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

(अन्य अभ्यस्त संज्ञा सूत्र)

९७. जक्षित्यादयः षट्—६।१।६॥

षड् धातवोऽन्ये[2] जक्षितिश्च सप्तम एते अभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत्, जक्षद् । जक्षतौ । जक्षतः ॥ एवं जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् ॥ गुप्[3], गुब् । गुपौ । गुपः गुब्भ्याम् ॥

---

1. दानं कुर्वन् ।
2. जागृ, दरिद्रा, शासु, चकासृ, दीधीङ्, वेवीङ् इति षट् धातवः (वे छः अभ्यस्त संज्ञक अन्य धातुएँ हैं) एवम् सप्तम् सप्तम 'जक्ष' धातु भी अभ्यस्त संज्ञक ही है ।
3. रक्षकः ।

अर्थ—'जागृ' आदि वक्ष्यमाण छै धातुएँ और सातवीं 'जक्ष्' धातु अभ्यस्त-संज्ञक हो।

जक्षत्[1]—'जक्षत्' इस स्थिति में 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम प्राप्त हुआ किन्तु जक्षित्यादयः षट्' से अभ्यास्त संज्ञा होने पर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् के निषेध होने पर 'हल्ङ्यादि' से सुलोप के पश्चात् पद संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व होकर 'जक्षद्' तथा 'वावसाने' से चर्त्व करके 'जक्षत्' एवं चर्त्व के अभाव पक्ष में 'जक्षद्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

जक्षतौ—'जक्षत् + औ' इस स्थिति में "उगिदचां०' इत्यादि से नुमागम प्राप्त होने पर 'जक्षित्या०' इत्यादि से अभ्यस्त संज्ञा हो गयी तब 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का निषेध होने पर एवं विभक्ति हीन शब्द की पद संज्ञा के अभाव में जश्त्व का निषेध होने पर तथा 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाने पर 'जक्षतौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

जक्षतः—'जक्षत् + जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार का अनुबन्ध लोप होकर 'उगिदचां०' से नुमागम प्राप्त हुआ किन्तु 'जक्षित्या०' इत्यादि से अभ्यस्त संज्ञा होने पर 'नाभ्यस्ताच्छतु' से नुमागम का निषेध हो गया तथा पद संज्ञा हीन उक्त शब्द को जश्त्व न होने पर 'अज्झीनं०' से मिलाकर तथा सकार को रुत्व विसर्ग होने के बाद 'जक्षतः यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—(i) अभ्यस्त संज्ञा बोधक निम्नलिखित श्लोक भी प्रसिद्ध है। जिसका उल्लेख 'मध्य सिद्धान्त कौमुदी' में किया गया है।

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ्[2] वेवीङ्[3] चकास्तथा।
अभ्यस्त संज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥

(ii) जक्षत् अथवा जक्षद् की भाँति ही अन्य अभ्यस्त संज्ञक धातुओं के रूप सिद्ध होंगे।

('कञ्-क्विन्' प्रत्यय विधि सूत्र)

९८. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च—३।२।६०।

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्यात्। चात् क्विन्॥

अर्थ—त्यादादि उपदद रहने पर अज्ञानार्थक दृश् धातु से कञ् प्रत्यय हो और चकारात् 'क्विन्' प्रत्यय भी हो।

---

१. भक्षण करता हुआ या हंसता हुआ इन दोनों ही अर्थों में 'जक्ष' धातु प्रयुक्त होती है।

२. दीधीङ् >दीप्तिदेवनयोः
३. वेवीङ् >वेतिना तुल्ये
} ये दोनों धातुएँ छान्दस् (वैदिक प्रयोग) के रूप में देखी जाती है।

(दृश् परक आकारान्त आदेश सूत्र)

६९. **आ सर्वनाम्नः—६।३।९१।**

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्यात् दृग्दृशवतुषु। तादृक्, तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्॥ व्रश्चेति षः। जश्त्व चर्त्वे। विट्[1], विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्॥

तादृक्, तादृग्—'तादृश्' इस स्थिति में 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर तथा उसको सर्वापहार लोप करके 'आ सर्वनाम्नः' से तद् शब्द को आकारान्तादेश होने पर और सवर्ण दीर्घ होकर 'तादृशः' यह रूप बना। तदनतन्र 'कृत्तद्धित समासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर तथा सु के आने एवं 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप करके 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' का असिद्ध होने से 'व्रश्चभ्रस्त्र०' इत्यादि से षत्व तथा उसके जश्त्व होकर डकार होने पर और कुत्व के पक्ष में गकार होने पर 'वावसाने' से चर्त्व करके ककार होकर 'तादृक्' यह रूप तथा चर्त्वाभाव पक्ष में 'तादृग्' ये दोनों रूप सिद्ध हुये।

तादृशौ—'तादृश्' इस स्थिति में 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च्' सूत्र से क्विन् प्रत्यय करके तथा सर्वापहार लोप होने पर 'आ सर्वनाम्नः' से तद् शब्द को आकारान्तादेश होने पर और सवर्ण दीर्घ होकर 'तादृश्' यह रूप बना। तब कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा तथा 'औ' विभक्ति लगाने पर 'अज्झीनं०' इत्यादि से मिलाकर 'तादृशौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

तादृशः—'तादृश् इस स्थिति में 'त्यदादिषु०' से क्विन् प्रत्यय करके तथा उसका सर्वापहार लोप तथा 'आ सर्वनाम्नः' से तद् शब्द को आकारान्तादेश एवं सवर्ण दीर्घ होकर 'तादृश्' यह रूप बना। तदनन्तर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा एवं जस् वि० के आने पर 'चुटू' से अनुबन्ध जकारादिलोप और सकार को रुत्व विसर्ग एवं 'अज्झीनं०' इत्यावि नियम मिलाकर 'तादृशः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

तादृग्भ्याम्—'तद्+दृश्' इस स्थिति में 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कंच' सूत्र से क्विन् प्रत्यय करके तथा उसका सर्वापहार लोप होने पर 'आ सर्वनाम्न' सूत्र से तद् शब्द को आकारान्तदेश होने पर सवर्ण दीर्घ होने के बाद 'तादृश' यह रूप बना। तत्पश्चात् कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा एवं 'भ्याम्' विभक्ति लगाने पर 'तादृश्+भ्याम्' बना। तब 'व्रश्चभ्रस्त्र०' इत्यादि से षत्व तथा जश्त्व करके डत्व एवं कुत्व पक्ष में गकार होने पर 'तादृग्भ्याम्' अभी रूप सिद्ध हुआ।

विट्, विड्—'विश्-प्रवेशने' धातु से क्विप् प्रत्यय तथा सर्वापहार लोप करके 'विश्+सु' बना। तब कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा एवं 'सु' विभक्ति लगाने पर

---

1. विट् वैश्यः।

'हल्ङ्यादि' से सुलोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व करके डत्व एवं चर्त्व करके 'विट्' और चर्त्वाभाव पक्ष में 'वावसाने' से 'विड्' दो रूप सिद्ध हुए।

विशौ—विश् > प्रवेशने धातु से क्विन् प्रत्यय तथा उसका सर्वापहार लोप होकर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने के बाद 'औ' विभक्ति लगाने पर 'विश् + औ' बना। परस्पर मिलाने पर 'विशौ' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशः—'विश् + जस्' इस स्थिति में क्विन् प्रत्यायन्त शब्द की कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा करके 'जस्' विभक्ति लगाने पर 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा व लोप हुआ तथा सकार को रुत्व विसर्ग होने पर एवं परस्पर मिलाकर 'विशः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विड्भ्याम्—विश् धातु से क्विन् प्रत्यय तथा सर्वापहार लोप होने पर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा करके 'भ्याम्' विभक्ति लगाने पर 'विश् > भ्याम्' बना तब 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से षत्व एवं झलांजशोऽन्ते से डकार तथा चर्त्वाभाव में डकार का डकार ही रहा क्योंकि पर में झश् प्रत्याहार होने से जश्त्व डकार हो गया तब मिलाने पर 'विड्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(वैकल्पिक कवर्गान्तादेश सूत्र)

१००. नशेर्वा—८।२।६३।

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते। नक्[1], नग्, नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्, नड्भ्याम्॥

अर्थ—'नश्' धातु को कवर्गान्त आदेश हो विकल्प से, पदान्त में।

नक्—'णश् > अदर्शने' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'नश् + सु' इस स्थिति में हल्ङ्या० इत्यादि से सुलोप 'व्रश्चस्त्र०' इत्यादि से षत्व, 'झलांजशोऽन्ते' से जश्त्व करके डत्व तथा 'नशेर्वा' सूत्र से कुत्व अर्थात् कवर्गान्तादेश करके 'वावसाने' से गकार तथा चर्त्व करके ककार होने पर 'नक्' एवं चर्त्वाभाव में गकार होने पर 'नग्' और कुत्व के अभाव पक्ष में 'नट्, नड्' इस प्रकार उक्त चार रूप निष्पन्न होते हैं।

नशौ—'नश् + औ' इस स्थिति में क्विप् प्रत्ययान्त अथवा कुदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'औ' विभक्ति लगाने पर षत्व, जश्त्व तथा पदान्त के अभाव में कुत्व एवं चर्त्वादि प्रक्रिया के न होने पर 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'नशौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

नशः—'नश् + जस्' इस स्थिति में 'चुटू' से जकार का लोप करके 'नश् + अस्' 'नशेर्वा' सूत्र से कवर्गान्तादेश प्राप्त हुआ किन्तु पदान्त के अभाव में निषेध हो

---

१. नश्वरः।

गया। इसी प्रकार षत्व एवं जश्त्व के अभाव में 'अउक्षीनं०' से मिलाकर तथा सकार को रुत्व विसर्ग करके 'नशः' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

नाग्भ्याम् नड्भ्याम्—नश् धातु से क्विप् प्रत्यय तथा सर्वापहार लोप करके कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'भ्याम्' विभक्ति लगायी तब 'नश्+भ्याम्' बना 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से षत्व एवं 'झलांजशोऽन्ते' से डकार तथा 'नशेर्वा' से कुत्व करके 'नग्भ्याम्' रूप निष्पन्न हुआ।

(क्विन् प्रत्यय विधि सूत्र)

१०१. स्पृशोऽनुदके क्विन्—३।२।५८।

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्[1], घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः। दधृक्, दधृग्। द धृषौ। द धृग्भ्याम्॥ रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्॥ षट्, षड्। षड्भिः। षड्भ्यः षण्णाम् षट्सु। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात्ससजुषो रुरिति रुत्वम्॥

अर्थ—उदक् शब्द भिन्न सुबन्त उपपद रहने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय हो।

घृतस्पृक्—घृतस्पृग्-घृतंस्पृशतीति यह विग्रह करने पर 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर पथा उसके सर्वापहार लोप होकर 'उपपदमतिङ्' सूत्र से उपपद समास में 'सुप्' का लोप होने पर एवं समास होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा हो गयी तब 'सु' विभक्ति लाने पर 'घृतस्पृश्+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि०' इत्यादि से 'सु' के लोप होने पर 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व का पूर्व में असिद्ध होने से 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से षत्व तथा जश्त्व करके डत्व एवं डत्व को भी 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व या गकार होने पर तथा 'वावसाने' से चर्त्व होकर ककार करके 'घृतस्पृक्', चर्त्वाभाव पक्ष में 'घृतस्पृग्' ये दो रूप सिद्ध हुए।

दधृक्[2]—'दधृष् शब्द से 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र के द्वारा क्विन् प्रत्यय होकर तथा उसका सर्वापहार लोप एवं कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सु' विभक्ति लाये तब 'दधृष्+सु' बना 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप एवं 'झलांजशोऽन्ते' से षकार को जश्त्व अथवा डकार होकर तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से डकार को कुत्व अथवा गकार करने पर और विकल्प से 'वावसाने' से चर्त्व ककार होकर 'दधृक्' चर्त्वाभाव पक्ष में 'दधृग्' ये दोनों अभीष्ट रूप निष्पन्न हुए।

रत्नमुट्, रत्नमुड्[3]—'रत्नमुष्+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि०' इत्यादि से सुलोप होने पर 'झलांजशोऽन्ते' से डत्व तथा 'वावसाने' से चर्त्व अर्थात् टकार एवं चर्त्वाभाव पक्ष में डकार होकर 'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दोनों निष्पन्न रूप सिद्ध हुए।

---

१. घृतस्पर्शकारी। (घृतस्पृक्)
२. दधृक्—धर्षणकारकः।
३. रत्नापहारकः (रत्नमुट्)

विशेष—उपर्युक्त 'रत्नमुट्' की सिद्धि में क्विन् प्रत्यय के अभाव में कुत्व अथवा कवर्गान्तादेश का निषेध हो जाता है।

षट्, षड्—षट् शब्द नित्य बहुवचनान्त होने से 'जस्' विभक्ति लगाने पर 'षट् + जस्' इस स्थिति में 'ष्णान्ता षट्' से षट् संज्ञा होने पर 'षड्भ्योलुक्' से जस् का लोप हो गया तब 'झलां जशोऽन्ते' से टकार को डकार एवं 'वावसाने' से चर्त्व करने पर 'षट्' तथा चर्त्वाभाव पक्ष में 'षड्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

विशेष—इसी प्रकार 'शस्' विभक्ति के परे भी उक्त रूपवत् ही निष्पन्न 'षट्' रूप जानना चाहिए।

षण्णाम्—'षट् + आम्' इस स्थिति में 'ष्णान्ता षट्' से षट् शब्द की षट् संज्ञा होने पर 'षट्चतुर्भ्यश्च' से 'नुट्' का आगम एवं 'उट्' का अनुबन्ध लोप करके 'षट् न् + आम्' बना। षट् संज्ञा होने से 'झलां जशोऽन्ते' से टकार का डकार तथा 'प्रत्ययेभाषायां नित्यम्' से अनुनासिक रहने पर डकार को णकार एवं 'ष्टुना ष्टुः' से 'नाम्' के नकार को टवर्ग या णकार होकर 'षण्णाम्' यह निष्पन्न रूप सिद्ध हुआ।

षट्सु, षट्त्सु—'षष् + सुप्' इस स्थिति में पकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया 'स्वां दिष्वसर्वनामस्थाने' से पद संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व तथा जश्त्व से षकार को डकार होने पर 'षट् + सु' होकर 'डः सिधुट्' सूत्र से सकार को धुट् आगम होने पर टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' से आद्यावयव होने पर उट् का लोप तथा 'खरिच' से चर्त्व धकार को तकार पुनः 'खरिच' से डकार को टकार होकर 'षट्त्सु' यह रूप एवं धुट् के अभाव में 'षट् सु' दो रूप सिद्ध हुए।

(दीर्घत्व विधि सूत्र)

१०२. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः—८।२।७६।

रेफवान्तयोर्धात्वोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते। पिपठीः पिपठिषौ, पिपठीर्भ्याम् ॥

अर्थ—रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ हो पदान्त में।

पिपठीः[1]—'पिपठिष् + सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इत्यादि से सुलोप होने पर 'ससजुषोरुः' से रुत्व करने हेतु पूर्वत्रासिद्धम्' से षत्व के असिद्ध होने से पुनः उक्त सूत्र के द्वारा उकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर 'पिपठिर्' बनने पर 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इसे उपधा इकार को दीर्घ ईकार तथा 'वावसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर 'पिपठीः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पिपठिषौ—'पिपठिष् + औ' इस स्थिति में रुत्व करने के लिये पूर्वयाऽसिद्ध षत्व को रुत्व निषेध होने पर 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'पिपठिषौ' रूप सिद्ध हुआ।

---

१. पिपठीः पठितुम् इच्छुः अर्थात् पढ़ने का इच्छुक।

पिपठीर्भ्याम्—'पिपठिष् + भ्याम्' इस स्थिति में रेफ करने के लिये 'पूर्वत्रा-सिद्धम्' से षत्व के असिद्ध होने से 'ससजुषोरुः' से रेफ उकार की इत्संज्ञा व लोप करके 'पिपठिर् + भ्याम्' बना। तब 'अज्झीनं०' इत्यादि से मिलाने तथा 'र्वोरुपधायो दीर्घ इकः' से उपधा को दीर्घ अर्थात् इकार को ईकार करके 'पिपठीर्भ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

१०३. **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि—८।३।५८।**

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः। पिपठीष्षु, पिपठीःषु ॥

चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्भ्याम्। चिकीर्षु ॥ विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन् ॥

अर्थ—नुम्, विसर्जनीय और शर् इनमें प्रत्येक के व्यवधान होने पर भी इण् और कवर्ग से पर सकार को मूर्धन्य षकार आदेश हो।

पिपठीष्षु पठीःषु—'पिपठिस् + सुप्' इस स्थिति में 'हलन्त्यम्' से पकार की इत्संज्ञा हो गयी तथा तस्यलोपः से लोप पर होने एवं 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से पद संज्ञा होने पर 'ससजुषोरुः' से सकार को रुत्व तथा उकार की इत्संज्ञा तथा लोप साथ ही रेफ को 'खरवसानयो०' इत्यादि से विसर्ग और 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से इकार को ईकार दीर्घ होकर 'पिपठीः सु' बना, तब 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग को सकार तथा 'नुम्विसर्जनीय शर्व्यवायेऽपि' से 'सुप्' प्रत्यय के सकार को षत्व (मूर्धन्य षकार) होने पर 'ष्टुना ष्टुः' से पूर्व सकार को षत्व होने पर 'पिपठीष्षु' एवं 'वाशरि' से विसर्ग विकल्प से रहने पर 'पिपठीः षु' ये दोनों निष्पन्न रूप सिद्ध हुए।

चिकीः[1]—'चिकीर्ष् + सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि' से सुलोप होने पर षकार के असिद्धत्व के कारण सकार की दृष्टि से 'शत्सस्य' से स्लोप तथा रेफ को विसर्ग पर 'चकीः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विद्वान्—'विद्वस् + सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि०' इत्यादि से सुलोप होने पर 'प्रत्ययलोपे' से प्रत्ययलक्षण होने पर 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का लोप करके 'विद्वन् स्' बना। तब 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से उपधा को दीर्घ एवं संयोगान्त सकार लोप होकर 'विद्वान्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विद्वांसौ—'विद्वस् + औ' इस स्थिति में 'सुडनपुं' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर 'उगिदचां०' से 'नुम्' का आगम तथा उम् इत्संज्ञा व लोप करके 'विद्वन् स् + औ' बना। तब 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से उपधा को दीर्घत्व एवं नकार को अनुस्वार और परस्पर मिलाकर 'विद्वांसौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

1. कर्तुम् इच्छुः (चिकीः) अर्थात् करने का इच्छुक।

'हे विद्वन्'—'हे विद्वस्+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्या०' से सुलोप। सर्वनाम स्थान संज्ञक होने से 'उगिदचां०' इत्यादि से 'नुम्' आगम तथा 'उम्' का लोप करके 'हे विद्वन् स'। तत्र 'संयोगान्तलोपः' से सकार का लोप होकर एवं सम्बद्धि में दीर्घ का निषेध होने पर 'हे विद्वन्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(सम्प्रसारण विधि सूत्र)

१०४. वसोः सम्प्रसारणम्—६।४।१३१।

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणम्। स्यात्। विदुषः। वसुस्रंस्विति दः। विद्वद्भ्याम्॥

अर्थ—वस्वन्त भसंज्ञक को सम्प्रसारण हो।

विदुषः—'विद्वस्+शस्' इस स्थिति में 'लशक्व०' इत्यादि से शकार का लोप, 'यचिभम्' से भसंज्ञा होने पर 'वसोः सम्प्रसारणम्' से वकार के स्थान पर उकार रूप सम्प्रसारण करने पर 'विद् उ अस् अस्' ऐसा रूप बनने पर 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्व-रूप एकादेश होकर विदुस्+अस् बना। तब 'आदेश प्रत्ययोः' से प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व एवं अन्तिम सकार को 'ससजुषोरुः' से 'रु' एवं 'खरवसा०' से विसर्ग करके 'विदुषः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विद्वद्भ्याम्—'विद्वस्+भ्याम्' इस स्थिति में सान्त होने से 'वसुस्रंसु०' इत्यादि से सकार को दकार आदेश एवं 'अज्झीनं०' से परस्पर मिलाने पर 'विद्वद्भ्याम' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

('असुङ्' आदेश सूत्र)

१०५ पुंसोऽसुङ्—७।१।८९।

सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात्। पुमान्[1]। हे पुमन्। पुमांसौ। पुंसः पुंभ्याम्। पुंसु। ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च। (इत्यनङ्)। उशना[2]। उशनसौ। (अस्य सम्बुद्धौ वानङ्, नलोपश्च वा वाच्यः) हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः। हे उशनसौ। उशनोभ्याम्। उशनस्सु। अनेहा[3]। अनेहसौ। हे अनेहः॥ वेधाः[4]। वेधसौ। हे वेधः। वेधोभ्याम्॥

अर्थ—'पुंस्' को 'असुङ्' आदेश हो, सर्वनाम स्थान के परे।

पुमान—'पुंस्+सु' इस स्थिति में 'पुंसोऽसुङ्' सूत्र से असुङ् आदेश करने पर 'ङिच्च' से अन्तिम सकार के स्थान पर उक्त आदेश होने पर 'पुमसुङ्+सु' बना।

---

१. पुरुषः।

२. शुक्राचार्यः (शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः। इत्यमरः)

३. कालः।

४. ब्रह्मा।

तब 'हलन्त्यम्' से उकार की और 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा एवं 'तस्यलोपः' से लोप हो गया। तब 'पुमस् + सु' बना। इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि०' से 'सु' का लोप, प्रत्यय लक्षण होने पर 'उगिदचां०' इत्यादि से नुम्' का आगम तथा 'उम्' का अनुबन्ध लोप करके 'पुमनन् स्' बना 'सान्त महतःसंयोगस्य' से उपधा को दीर्घत्व तथा सकार का संयोगान्तलोप होकर 'पुमान्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

उशना—'उशनस् + सु' इस स्थिति में 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च' से अनङ् आदेश होने पर 'ङिच्च' से इसको अन्तिम सकार के स्थान पर रखने पर तथा ङकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर और अकार का उच्चारण के सामर्थ्य के कारण उपस्थिति होने तथा उसके चले जाने पर 'उशनन् + सु' इस स्थिति में 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनाम स्थान संज्ञा एवं 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त की उपधा को दीर्घत्व होने पर 'हल्ङ्या०' से सुलोप तथा 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर 'उशना' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

हे उशन्—'हे उशनस् + सु' इस स्थिति में हल्ङ्यादि०' इत्यादि से सुलोप, 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् न लोपश्च वा वाच्यः' इस वार्तिक से अनङ् एवं नलोप करने पर 'हेउशन' यह एक रूप सिद्ध हुआ। वैकल्पिक अवस्था में न लोप के अभाव तथा अनङ् ादेश की स्थिति में 'हेउशनन्' द्वितीय रूप सिद्ध हुआ। एवम् अनङादेश के अभाव में सकार को रुत्वविसर्ग करके 'हेउशनः' यह तीसरा रूप सिद्ध हुआ।

उशनोभ्याम्—'उशनस् + भ्याम्' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्वनाम स्थाने' से पदसंज्ञा होने पर 'ससजुषोरुः' से सकार को रुत्व करके 'हशिच' से उत्व तथा 'आद्गुणः से गुण करके एवं परस्पर मिलाकर 'उशनोभ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

अनेहा—'अनेहस् + सु' इस स्थिति में ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च' से 'अनङ' आदेश ङित् होने से अन्तिम सकार के स्थान पर करने पर अनुबन्ध लोप होकर तथा 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप, 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से उपधा का दीर्घत्व 'अनेहान्स' रहा तत्पश्चात् संयोगान्त सकार का लोप एवं नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार लोप होकर 'अनेहा' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

वेधा—'वेधस् + सु' इस अवस्था में 'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' से उपधा को दीर्घ' 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप होने पर सकार को रुत्वविसर्ग होकार 'वेधाः' यह अभीष्ट सिद्ध हुआ।

हे वेधः—'हे वेधस् + सु' इस स्थिति में सम्बुद्धि परे होने से 'असुम्बुद्धौ' से उपधा के दीर्घत्व का निषेध तथा 'हल्ङयादि०' से सुलोप एवं सकार को रुत्व विसर्ग करके 'हेवेधः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'वेधोभ्याम्'—'वेधसु+भ्याम्' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्वनाम स्थाने' से पदसंज्ञा होने पर 'ससजुषोरुः' से सकार को 'रु' तथा 'हशिच' से उकार एवं आद्गुणः से ओकार गुण करके और परस्पर मिलाकर 'वेधोभ्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(औकारान्ता देश सूत्र)

१०६. अदस औ सुलोपश्च—७।२।१०७।।

अदस औकारान्तादेशः स्यात्सौ परे सुलोपश्च। तदोरिति सः। असौ। त्यदाद्यत्वम्। पररूपत्वम्। वृद्धिः।।

अर्थ—'अदस्+सु' इस अवस्था में 'अदस औ सुलोपश्च' सूत्र से सकार के स्थान पर औत्व आदेश करके तथा सुलोप होकर 'अद औ' यह बना। तब 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' से दकार को सकार एवं 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'असौ' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(ह्रस्व-दीर्घ मकारा देश विधि सूत्र)

१०७. अदसोऽसे र्दादु दोमः—८।२।८०।।

अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौस्तो दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उ दीर्घस्य: ऊ। अमू। जसः शी। गुणः।।

अर्थ—असान्त अदस् शब्द सम्बन्धी दकार से पर उत्, ऊत् हो (ह्रस्व को ह्रस्व, दीर्घ को दीर्घ) तथा दकार को मकार आदेश हो।

अमू—'अदस्+औ' इस अवस्था में 'त्यदादीनामः' से अकारान्तादेश तथा 'अतोगुणे' से पररूप होने पर 'अद+औ' बना। तब 'वृद्धिरेचि से वृद्धि करने पर 'अदौ' यह होने पर 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' से औकार को ऊकार होने पर तथा दकार को मकारादेश होकर 'अमू' यह रूप सिद्ध होता है।

(ईत्—'म' आदेश सूत्र)

१०८. एत ईद् बहुवचने—८।२।८१।।

अदसोदात्परस्यैत ईद्दस्य चमो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रासिद्धम् इति विभक्तिकार्यं प्राक् पश्चाद् उत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञाया भावः।।

अर्थ—असान्त, अदस् शब्द सम्बन्धी दकार से पर एकार को 'ईत्' हो तथा दकार को मकार आदेश हो बहुवचन के अर्थ में।

अमी—'अदस्+जस्' इस दशा में 'त्यदादीनामः' से सकार के स्थान पर अकारान्तादेश करके 'अतोगुणे' से पररूप होकर 'अद+जस्' ऐसी स्थिति में 'जसः

शीः' जस् के स्थान पर 'शी' आदेश तथा शकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके 'अद+ई' बना। तब 'आद् गुणः' से अकार और ईकार के स्थान पर एकार गुण एकादेश होने पर 'अदे' बना। तत्पश्चात् 'एत ईद् बहुवचने' से एकार को ईकार एवं दकार को मकार होने पर 'अमी' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(मुत्वासिद्धत्व निषेधात्मक सूत्र)

१०९. न मुने—८।२।३।

ना भावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्३ अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः२। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः२। अमीषाम् अमुष्मिन्। अमीषु॥[1]

अर्थ—यदि 'ना' भाव कर्तव्य (करणीय अथवा करना) हो, या कर भी लिया गया हो तो भी 'मु' भाव असिद्ध नहीं होता है।

अमुना—'अदस्+टा' इस अवस्था में 'त्यदादीनामः' से अकारान्तादेश तथा 'अतो गुणे' से पर रूप एकादेश होकर 'अद+टा' बना। तब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' से अकार को उत्व एवं दकार को मत्व होने पर 'अमु+टा' यह बना। तत्पश्चात् 'ना' भाव (तृतीया विभक्ति के 'टा' प्रत्यय का ज्ञापकया सूचक) कर्तव्य होने से 'नमुने', सूत्र से मुत्व के असिद्ध होने की स्थिति में भी उसके असिद्ध का अभाव ज्ञापित होने के कारण 'शेषोऽध्यसखि' से घिसंज्ञा' होने पर 'आङो नाऽस्त्रियाम्' से टा के स्थान पर 'ना' आदेश होने पर 'अमुना' यह निष्पन्न रूप सिद्ध हुआ।

---

१. अदस् शब्द के पुल्लिङ्ग रूप—

प्रथमा	असौ,	अमू,	अमी।
द्वितीया	अमुम्,	अमू,	अमून्।
तृतीया	अमुना,	अमूभ्याम्,	अमीभिः।
चतुर्थी	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः।
पंचमी	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः।
षष्ठी	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्।
सप्तमी	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु।

विशेष—त्यदादि अर्थात् सर्वनाम शब्दों के सम्बोधन रूप नहीं होते।

"इति हलन्त पुल्लिङ्गाः"।

(इस प्रकार हलन्त पुल्लिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ।)

अथ हलन्त स्त्रीलिङ्गाः

(धकारादेश सूत्र)

१. **नहो धः—८।२।३४।**

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च ॥

अर्थ—'नह्' धातु के हकार को धकार हो, झल् के परे पदान्त में।

(नहादि 'अण्' दीर्घत्व विधि सूत्र)

२. **नहि वृतिवृषिव्यधि रुचिसहितनिषु क्वौ—६।३।११६।**

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु ॥ क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन धः। उष्णिक् उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम् ॥ द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम् ॥ गीः। गिरौ। गिरः ॥ एवं पूः ॥ चतस्रः। चतसृणाम् ॥ का। के। काः। सर्वावत् ॥

अर्थ—क्विबन्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु के पूर्व अण् को दीर्घ हो।

उपानत्[1]—'उपानह् + सु' इस स्थिति में सु के उकार के लोप हो जाने पर सकार का 'हल्ङ्या०' इत्यादि से लोप हो जाने पर 'नहो धः' से हकार को धकार हो जाने पर 'झलां जशोऽन्ते' से धकार को जश्त्व दकार हो गया तथा 'वावसाने' से चर्त्व अथवा तकार करके 'उपानत्' एवं चर्त्वा भाव पक्ष में 'उपानद्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

उष्णिक्[2]—उत् उपसर्ग पूर्वक 'ष्णिह्' धातु से 'ऋत्विग्दधृक०' इत्यादि से क्विन् प्रत्यय तथा उसके सर्वापहार लोप होने पर एवं निपातन होने से दकार के लोप तथा षत्व होने पर उष्णिह् शब्द निष्पन्न हुआ है। कृदन्त होने से प्रातिपादिक संज्ञा होने पर सु विभक्ति लाये एवं 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप होकर 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व होने से हकार को घकार 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व होकर दकार होने पर 'वावसाने' चर्त्व अथवा ककार होने पर 'उष्णिक्' तथा चर्त्वाभाव के पक्ष में 'उष्णिग्' ये दोनों निष्पन्न रूप सिद्ध हुए।

द्यौ[3]—'दिव् + सु' इस स्थिति में 'दिव औत्' से वकार को औकार करके 'इकोयणचि' से यण करके एवं उकार लोप और सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'द्यौ' यह रूप सिद्ध हुआ।

---

१. उपानत् पादत्राणम् इत्यर्थः।
२. वेदमन्त्रेषूपलभ्यमानच्छन्द विशेषः ॥
३. द्यौः स्वर्गौ नभश्च।

गीः[1]—'गॄ-निगरणे' क्विप् इस स्थिति में 'ऋत इद्धातोः' से इत्व तथा 'उरण्रपरः' से रपरक करने पर 'गिर्+सु' इस दशा में 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप तथा 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से उपधा को दीर्घत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर 'गीः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष— उपर्युक्त विधि से ही 'पूः[2]' इत्यादि के रूप सिद्ध होते हैं।

चतस्रः—'चतुर्+जस्' इस स्थिति में 'त्रिचतुरोः 'स्त्रियांतिसृचतसृ' सूत्र से चतुर् शब्द को चतसृ आदेश करने पर जस् के जकार की 'चुटू' से इत्संज्ञा व लोप होकर 'अचि र ऋतः' से ऋकार को रेफ एवं सकार को रुत्व विसर्ग करके 'चतस्रः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—इसी प्रकार 'शस्' विभक्ति परे रहने पर भी 'चतस्रः' रूप बनेगा।

चतसृणाम्—'चतुर्+आम्' इस स्थिति में त्रिचतुरोः स्त्रियांतिसृ पदे चतसृ' सूत्र से चतसृ आदेश करने पर 'चतसृ+आम्' बना। तब 'अचि र ऋतः' से ऋकार का रेफादेश प्राप्त हुआ किन्तु 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' सूत्र से पूर्वविप्रतिषेध से उसका बाध करके 'ह्रस्वनद्यापोनुट्' सूत्र से नुट् आगम होने पर उट् का लोप टित् होने से आद्यावयव होने पर 'चतसृ+नाम्' इस स्थिति में 'नामि' से दीर्घ प्राप्त हुआ किन्तु 'न तिसृचतसृ' से निषेध होने पर ऋवर्णान्तिस्यणत्वं वाच्यम्' से णत्व होकर 'चतसृणाम्' यह रूप सिद्ध हुआ।

(यकारादेश सूत्र)

३. यः सौ—७।२।११०।

इदमो दस्य यः स्यात्सौ। इयम्। त्यदाद्यत्वम्। टाप्। दश्चेतिमः। इमे। इमाः। अनया। हलिलोपः। आभ्याम्। अभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु॥ त्यदाद्यत्वम्। टाप्। स्या। त्ये। त्याः॥ एवं तद् एतदोः 'सा' एषा[3]॥ वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु। अप् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अप्तृन्निति दीर्घः। आपः। अपः॥

अर्थ—'इदम्' शब्द के दकार को यकारादेश हो, सु के परे स्त्रीलिङ्ग में।

इयम्—'इदम्+सु' इस दशा में उकार की इत्संज्ञा एवं लोप 'यः सौ' से दकार के स्थान पर यकारादेश करके 'इयम्+सु' बना। 'त्यदादीनामः' से अकारादेश प्राप्त उसे बाध करके 'इदमो मः' से यकार को मकारादेश करके 'हल्ङ्या०' से सकार लोप होकर 'इयम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

१. गी 'र्वाणी' त्यर्थः।
२. पूः नगरी पुरी वा (केचिद् एनां ग्राम इति वदन्ति) लघुसि० कौ०।
३. सा, ते, ताः। एषा, एते, एताः इत्यादि तद् एवं एतद् के स्त्रीलिङ्ग के रूप हैं।

अनया—'इदम्+टा' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से अकारादेश एवं 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश करके 'टाप्' परे रहने पर 'इदा+टा' ऐसी अवस्था में 'चुटू' से टकार का अनुबन्ध लोप होकर सवर्ण दीर्घ करके 'इदा+आ' ऐसी स्थिति में 'अनाप्यकः' सूत्र से इदम् के इद् भाग को अनादेश करके 'अना+आ' बना। तब 'आङि चापः' से आबन्त अङ्ग को एकार करने पर 'एचोऽयवायावः' से अयादेश एवं संयोग करने पर 'अनया' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

आभ्याम्—'इदम्+भ्याम्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से अकारादेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप होकर स्त्रीलिङ्ग टाप् प्रत्यय में अनुबन्ध लोप होकर तथा सवर्ण दीर्घ करके 'इदा+भ्याम्' यह बना। इस दशा में 'हलिलोपः' इद्भाग का लोप करके 'आभ्याम्' यह रूप सिद्ध हुआ।

आसाम्—'इदम्+आम्' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से अकार अन्तादेश, 'अतो गुणे' से पररूप करके टाप् प्रत्यय परे रहने पर एवं अनुबन्ध लोप तथा सवर्ण दीर्घ करके 'इदा+आम्' बना। तब आम् परे रहने पर 'सर्वनाम्नः सुट्' का आगम उट् का लोप 'हलिलोपः' से इद् भाग का लोप करके 'आसाम्' यह रूप सिद्ध हुआ।

अस्याम्—'इदम्+ङि' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से अकारान्तादेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप करके 'टाप्' प्रत्यय परे रहने पर एवं अनुबन्ध लोप करके 'इदा+ङि' बना। हलि लोपः से इद् भाग का लोप करके 'आ+ङि' इस दशा में 'ङेराम् इत्यादि सेङि' को आम् आदेश करके 'सर्वनाम्नः स्याड्—' इत्यादि से आम् को स्याट् का आगम तथा पूर्व आकार को ह्रस्व करके 'अ स्याट् आम्' बना। तब टकार की इत्संज्ञा एवं लोप और सवर्ण दीर्घ करके 'अस्याम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'वाक्, वाग्'—वच् परिभाषणे धातु से क्विन् प्रत्यय तथा लोप एवं कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा करके 'वाच्+तु' 'हल्ङ्याडि०' से सुलोप तथा 'चोः कुः' से कुत्व होकर चकार को ककार वावसाने से विकल्प से पक्ष में चर्त्वाभाव करके गकार एवं 'वाक्' एवं वाग्' ये दोनों रूप सिद्ध हुए।

'आपः'[1]—'अप्+जस् इस स्थिति में 'अप्तृन्तृच्०' इत्यादि से उपधा को दीर्घ करने पर 'चुटू' से जकार को इत्संज्ञा एवं लोप होकर एवं सकार को रुत्व विसर्ग करके तथा संयुक्त करके 'आपः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(तकारान्तादेश सूत्र)

४. अपो भि—७।४।४८।

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भिः। अद्भ्यः२। अपाम्। अप्सु॥ दिक्, दिग्। दिशौ। दिशः। दिग्भ्याम्॥ त्यदादिष्वपि दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्।

---

१. आपः 'आपो भूम्नि दार्वारि' सलिलम् इत्यमरः।

दृक्, दृग् । दृशौ । दृग्भ्याम् ।। त्विट्[1] त्विड् । त्विषौ । त्विड्भ्याम् ।। ससजुषोरुरिति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ।। आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । असौ । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् ३ । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः२ । अमुष्याः अमुयोः२ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।।

अर्थ—'अप्' शब्द को तकारान्त आदेश हो भकारादि प्रत्यय के परे रहने पर ।

अद्भिः—'अप्+भिस्' इस स्थिति में 'अपो भि' सूत्र से पकार को तकार आदेश करने पर एवं 'झलां जशोऽन्ते' से तकार को दकार होने पर तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'अद्भिः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

दिक्[2]—दिश्>अति सर्जने धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर तथा उसके सर्वापहार लोप होकर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सु विभक्ति लगाने से दिश्+सु बना । तब 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप 'व्रश्च-भ्रस्ज०' इत्यादि से षत्व 'झलां जशोऽन्ते' से डत्व एवं 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व गकार तथा 'वावसाने' से चर्त्व ककार करके 'दिक्' और चर्त्वाभाव पक्ष में 'दिग्' ये दो अभीष्ट रूप सिद्ध हुए ।

दृक्[3]—'दृश्+सु' इस अवस्था में उकार की इत्संज्ञा व लोप होने पर 'हल्ङ्यादि०' से सुलोप 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि से षत्व तथा जश्त्व करके डकार और उसे कुत्व करके गकार एवं 'वावसाने' से चर्त्व ककार करके 'दृक्' और चर्त्वाभाव पक्ष में 'दृग्' ये दोनों अभीष्ट निष्पन्न रूप सिद्ध हुए ।

सजूः[4]—'सजुष्+सु' इस स्थिति में सकार के उत्तरवर्ती उकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर एवं 'हल्ङ्यादि०' से सकार का लोप तथा 'ससजुषोरुः' से षकार को रुत्व एवं उकार के लोप होने पर 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से जकार के उत्तरवर्ती जकार को दीर्घत्व और रेफ को विसर्ग करके 'सजूः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ ।

---

१. त्विट् कान्तिः ।

२. दिक् शब्दः प्राच्यादिषु रूढः (पूर्वादि दिशाओं के लिये 'दिक्' शब्द का) प्रयोग प्रसिद्ध है ।

३. दृग् दृक् वा लोचनार्थे ।

४. सजूः शब्दो मित्रवाची त्रिलिङ्गः ।

अदस् शब्द के स्त्रीलिंग में सभी रूप निम्नवत् उल्लिखित है :—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	असौ	अमू	अमूः ।
द्वितीया	अमुम्	अमुम्	अमूः ।
तृतीया	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः ।
चतुर्थी	अमुष्यै	अमूभ्याम्	अमूभ्यः ।
पंचमी	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः ।
षष्ठी	अमुष्याः	अमुयोः	अमूषाम् ।
सप्तमी	अमुष्याम्	अमुयोः	अमूषु ।

इति हलन्त स्त्रीलिङ्गः ।

(इस प्रकार हलन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।)

अथ हलन्त नपुंसकलिङ्गः

स्वमोर्लुक्[1] । **दत्वम्**[2] । **स्वनडुत्, स्वनडुद्**[3] । **स्वनडुही । चतुरन डुहो-रित्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् शेषं पुंवत् ॥**

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग में 'सु' तथा 'अम्' अर्थात् प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति एकवचन के प्रत्ययो का लोप हो जाता है ।

स्वनडुत्—सु-शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्येति बहुव्रीहौ अर्थात् जिस कुल के सुन्दर बैल हैं ऐसा वह 'गोकुलया तत्सम्बन्धी स्थान' यह विग्रह बहुव्रीहि समास में होता है । इस अवस्था में नपुंसक लिङ्गात्मक स्वनडुह् शब्द से ''सु' विभक्ति लाने पर 'स्वनडुह्+सु' बना । तब 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से सुलोप होने पर तथा 'वसु-स्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' सूत्र से हकार को दकार करने पर 'वावसाने' सूत्र से दकार को तकार होकर 'स्वनडुद्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ एवं चर्त्वाभाव पक्ष में 'स्वनडुद' यह अन्य वैकल्पिक रूप सिद्ध हुआ ।

स्वनडुही—'स्वनडुह्+औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' सूत्र से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश करने पर तथा शकार का 'लशक्वतद्धिते' से शकार की

---

१. 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र के द्वारा 'सु' और 'अम्' विभक्तियों का लोप हो नपुंसक-लिङ्ग के परे ।

२. 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' से हकार को दकार आदेश हो जाता है ।

३. स्वनडुद (स्वनडुत्) शोभनाः अनड्वाहो यस्ययस्मिन् वा तत् स्वनडुत् (गोकुल-मित्यर्थ) अर्थात् जिसके या जिसके अन्दर सुन्दर-सुन्दर बैल हों उसे स्वनडुत् अथवा कुल 'सुगोकुल' कहते हैं ।

इत्संज्ञा एवं लोप करके तथा 'अज्झीनं०' इत्यादि में संयुक्त करके 'स्वनडुही' यह निष्पन्न रूप सिद्ध हुआ।

स्वनड्वांहि—'स्वनडुह् + जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' सूत्र से जस् के स्थान पर 'शि' आदेश करने पर तथा 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर 'स्वनडुह् + इ' बनने की अवस्था में 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' से आम्' आगम, मकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके 'स्वनडु आह् इ' बना। तदनन्तर 'नपुंसकस्य झलचः' से नपुंसकलिङ्ग शब्द को 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का अनुबन्ध लोप होने पर 'स्वनडु आ न् ह् इ' बना। तब 'इको यणचि' से उकार को वकार नकार को हल् परे रहने पर अनुस्वार करके एवं 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'स्वनड्वांहि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग वाची स्वनडुत् शब्द के द्वितीया विभक्ति के एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन भी क्रमशः 'स्वनडुत्', 'स्वनडुही' तथा 'स्वनड्वांहि' ये ही रूप सिद्ध होंगे।

वाः[1] वारी वारि। वार्भ्याम्॥ चत्वारि॥ किम्। कानि॥ इदम्। इमे। इमानि। **(अन्वादेशे नपुंसके वा एनद् वक्तव्यः)** इति वार्तिक। एनत्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः॥ अहः[2]। विभाषाङिश्योः। अह्नी, अहनी। अहानि।

वार्तिक का अर्थ—अन्वादेश के विषय रहने पर नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' और 'एतद्' शब्द को 'एनत्' आदेश हो।[3]

वाः—'वार् + सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से नपुंसकलिङ्ग शब्द से परे 'सु' विभक्ति का लोप होने पर तथा रान्त होने से 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग होकर 'वाः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

वारी—'वार् + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से नपुंसकलिङ्ग शब्द से परे 'औ' विभक्ति के स्थान पर शी आदेश होने पर तथा 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर 'वार् + ई' बना। तब 'अज्झीनं०' इत्यादि से परस्पर मिलने पर 'वारी' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

वारि—'वार् + जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' सूत्र से जस् के स्थान पर

---

१. जलम् इत्यर्थः।

२. 'अहः' इत्यस्य दिनम् इत्यर्थः।

३. इदमेतदोः क्लीबे द्वितीयैकवचने एनादेशं बाधित्वा 'अन्वादेशे—' इतिवार्तिकेन एनदादेशम् अर्थात् द्वितीया एकवचन में 'इदम्' तथा 'एतद्' के स्थान पर होने वाले 'एनम्' आदेश को बाधित करके 'अन्वादेश—' इत्यादि वार्तिक से 'एनद्' आदेश हो जाता है।

'शि' आदेश होकर तथा शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होने पर और 'अज्झीनं०' से मिलाकर 'वारि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

चत्वारि—'चतुर्+जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से जस् के स्थान पर 'शि' आदेश करने पर 'शि सर्वनामस्थानम्' ये सर्वनाम स्थान संज्ञा, 'चतुरनडुहो-रामुदात्तः' से 'आम्' आगम, मकार लोप तथा शिक् इकार या अनुबन्ध लोप करके 'चतु आर्+ई' बना। तब 'इकोयणचि' से यणक करके उकार को वकार होकर एवं संयुक्त करके 'चत्वारि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया विभक्ति के सभी वचनों के रूप प्रथमा विभक्तिवत् ही चलेंगे अर्थात् प्रथमा की भाँति द्वितीया के रूप सिद्ध होंगे एवं शेष सभी पुलिङ्ग की तरह निष्पन्न होंगे।

किम्—'किम्+सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' विभक्ति का लोप होने से नपुंसकलिङ्ग वाची 'किम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—स्वमोर्लुक् अर्थात् 'सु' तथा 'अम्' विभक्ति का लोप होने पर 'न लुमाताङ्गस्य' से निषेध करके प्रत्यय लक्षण के अभाव में यहाँ विभक्ति परक प्रत्यय का अभाव होने से का देश नहीं हुआ इसी प्रकार 'इदम्', त्यद्, तद्, यद् एतद् इत्यादि रूपों की निष्पत्ति में 'सु' तथा अम् का लोप होने से अत्व-सत्वादि का अभाव ही रहता है।

के—'किम्+औ' इस स्थिति में 'किमः कः' सूत्र से 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश विभक्ति के परे हो गया तब 'क+औ' बना। तत्पश्चात् 'नपुंसकाच्च' सूत्र से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश होने पर तथा 'लशक्व०' इत्यादि से शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर 'क+ई' बना। तदनन्तर 'आद्गुणः' से ककार उत्तरवर्ती अकार और उसके परे ईकार के स्थान पर गुण एकादेश एकार हो जाने पर 'के' यह रूप सिद्ध हुआ।

कानि—'किम्+जस्' इस स्थिति में 'किमः कः' से 'किम्' के स्थान पर कादेश 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश होकर 'क+शि' तब 'शि सर्व-नामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा तथा शकार का लोप होने पर बना। 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम एवं 'उम्' का अनुबन्ध लोप करके 'क न्+इ' बना। तत्पश्चात् 'सर्वनामस्थाने चासुम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घत्व तथा 'अज्झीनं०' इत्यादि से मिलाकर 'कानि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

इदम्—'इदम्+सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से 'सु' विभक्ति का नपुंसकलिङ्ग में लोप होने पर 'इदम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

इमे—'इदम्+औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' से मकार का अत्व, 'अतो गुणे, से पररूपत्व तथा 'नपुंसकाच्च से' 'औ' के स्थान पर 'शी' एवं शकार का अनुबन्ध लोप और 'आद्गुण' से एकार गुण एकादेश होकर 'इदे' बन गया। तत्प-श्चात् 'दश्च' से दकार को मकार करके 'इमे' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

इमानि—'इदम् + जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से जस् के स्थान पर 'शि' आदेश करके तथा 'शि सर्वनामस्थाम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा एवं शकार का लोप होकर 'इदम् + इ' बना। 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूपत्व और 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम, 'उम्' का अनुबन्ध लोप करके 'इद न् इ' बना। तदनन्तर दश्च से दकार को मकारादेश एवं 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घत्व तथा परस्पर मिलाकर 'इमानि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

एनत्—'इदम् + अम्' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से नपुंसकलिङ्ग वाची के अर्थ में 'अम्' विभक्ति का लोप होने पर 'अन्वादेश नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इस वार्तिक से 'एनद्' आदेश करके 'वावसाने' से विकल्पतः चर्त्व करने पर एवं तकार होकर 'एनत्' यह रूप सिद्ध हुआ। चर्त्वाभाव पक्ष में 'एनद्' यह द्वितीय अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

एने—'इदम् + औट्' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से 'औट्' के स्थान पर 'शी' आदेश तथा शकार का लोप होकर तथा 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' वार्तिक के द्वारा इदम् या एतद् के स्थान पर एनद् आदेश करने पर 'एनद् + ई' बना। तब 'त्यदादीनामः' से अत्व तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर एवं 'अद्‌गुणः' से एकार गुण एकादेश होने पर 'एने' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

एनानि—'इदम् + शस्' इस स्थिति में 'अन्वादेश नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इस वार्तिक से एनदादेश करके 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश एवं 'जश्शसोः शिः' से नपुंसकलिङ्ग में 'शस्' के स्थान पर 'शि' आदेश तथा शकार का अनुबन्ध लोप करके और 'शि' का सर्वनाम स्थान संज्ञा हो गयी तब 'एन इ' बना। तदन्तर 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम् एवं 'उम्' का अनुबन्ध लोप होकर 'एन न् इ' यह बना। तत्पश्चात् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घ होकर तथा मिलाने पर 'एनानि' यह निष्पन्न रूप सिद्ध हुआ।

एनेन—'इदम् + टा' इस स्थिति में 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इस वार्तिक के द्वारा एनदादेश (एनद् + आदेश) करने पर 'त्यदादीनामः' सूत्र से अत्व तथा 'अतोगुणे' से पररूप होकर 'एन + टा' बना। तब उक्त स्थिति में 'टाङसिङसामिनात्स्याः' सूत्र से 'टा' के स्थान पर इनादेश करने पर 'आद् गुणः' से गुण एकादेश एकार होने पर 'एनेन' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'एनयोः'—'इदम् + ओस्' इस स्थिति में 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इस वार्तिक से 'एनद्' आदेश करने पर 'त्यदादीनामः' से अत्व तथा 'अतो गुणे' से पररूप एवं 'ओसिच' सूत्र से अदन्त अंग 'एन' के अकार को 'ओस्' विभक्ति परे रहने पर एकादेश होकर 'एने + ओस्' बना। तब 'एचोऽयवऽयावः' सूत्र से अयादेश एवं सकार को रुत्व विसर्ग होने पर 'एनयोः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

अहः—'अहन्+सु' से इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप होने पर 'रोऽसुपि' नकार को रेफादेश होकर 'अहर्' बना। तब 'खरवसा—नयोर्विसर्जनीयः' से रेफ के स्थान पर विसर्ग होने पर 'अहः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—'**विभाषा ङिश्योः**'[1]—सूत्र द्वारा यह ज्ञातव्य है कि अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि-स्वादि प्रत्यय परक अन् के अकार का विकल्प से लोप तब हो जाता है जब उसके परे ङि (सप्तमी विभक्ति का एकवचन का प्रत्यय) तथा शि प्रत्यय होता है।

अह्नी, अहनी—'अहन्+औ' इस दशा में 'नपुंसकाच्च' से औ के स्थान पर '**शी**' आदेश होने पर शकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होने पर 'अन्ही' एवं विकल्प के अभाव पक्ष में 'अहनी' ये दोनों निष्पन्न वैकल्पिक रूप सिद्ध हुए।

'अहानि'—'अहन्+जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शि' सूत्र के द्वारा 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश, शकार की इत्संज्ञा व लोप करके 'अहन्+इ' बना। तब 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर तथा 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घ होने पर एवं मिलाकर 'अहानि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

१. अहन्—८।२।६८।

अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्॥ दण्डि। दण्डिनि। दण्डीनि। दण्डिना। दण्डिभ्याम्॥ सुपथि। टेर्लोपः। सुपथी। सुपन्थानि। ऊर्क्[2]**, ऊर्ग्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। नरजानां**[3] **संयोगः। तत्। ते। तानि॥ यत्। ये। यानि॥ एतत्। एते। एतानि। गवाक्, गवाग्**[4]**। गोची। गवाञ्चि। पुनस्तद्वत्। गोचा। गवाग्भ्याम्॥ शकृत्। शकृती। शकृन्ति। ददत्॥**

अर्थ—'अहन्' शब्द के नकार को 'रु' हो पदान्त में।

अहोभ्याम्—'अहन्+भ्याम्' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से पद संज्ञा होने पर 'अहन्' सूत्र के द्वारा नकार को रुत्व (रेफादेश) होने पर तथा 'हशि च' से उसको उत्व एवं 'आद् गुणः' से ओकार गुण एकादेश होकर '**अहोभ्याम्**' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

---

१. यजादि में य्+अजादि ऐसा है अर्थात् यादि और अजादि (जज्+आदि=यजादि स्वादि ऐसा अर्थ करना गलत है)।

२. **बलं तेजश्च।**

३. तवर्गस्यचवर्गेण योगाभावात् श्चुत्वं न अर्थात् तवर्ग का चवर्ग योग का अभाव होने से यहाँ श्चुत्व सन्धि नहीं होती।

४. 'गवाक्' इत्यस्य गति पूजनयोः। यहाँ गति पक्ष में प्रयुक्त रूप अभिप्रेत है।

सुपथि—(शोभनाः पन्थानः यस्य यस्मिन् वा तन्नगरम्) इत्यादि शब्द बोध करने पर 'सुपथिन्+सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप करने के पश्चात् 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का पदान्त में लोप होने पर 'सुपथि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सुपन्थानि—'सुपथिन्+जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शि' से 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश करने पर तथा शकार की इत्संज्ञा तथा लोप करके 'शि सर्वनाम-स्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से या के अन्तर्गत इकार का आकार करने पर 'सुपथन्+इ' ऐसा बनने पर 'थोन्थः' से थकार को 'न्थादेश' करके एवं 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घ करके 'सुपन्थानि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ऊर्क्, ऊर्ग्—'ऊर्ज्+सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से सुलोप होने पर 'चोः कुः' सूत्र द्वारा जकार को गकार होकर 'वाऽवसाने' से विकल्पतः चर्त्व ककार हो गया तब 'ऊर्क्' यथा चर्त्वाभाव पक्ष में गकार होने पर 'ऊर्ग्' ये दोनों निष्पन्न रूप सिद्ध हुए।

ऊर्जी—'ऊर्ज्+औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान पर 'शी' आदेश होने पर तथा शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर और परस्पर मिलाने पर 'ऊर्जी' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ऊर्न्जि—'ऊर्ज्+जस्' इस अवस्था में 'जश्शसोः शिः' सूत्र से 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश• शकार का लोप तथा 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने के बाद 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का अनुबन्ध लोप होकर 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'नुम्' का आगम अन्तिम अच् के परे होने पर एवं 'नश्चापान्तस्य झलि' से अनुस्वार होकर 'ऊनर्ज्+इ' को ऊंर्ज् हो गया तत्पश्चात् 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' के द्वारा परसवर्ण करने पर 'ऊर्न्जि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

तत्—'तद्—सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप होकर 'वावसाने' से चर्त्व अर्थात् तकार करने पर 'तत्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ते—'तद्+औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश होने पर 'त्यदादीनामः' से दकार को अकार तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेक होने पर 'त+शी' बना। तत्पश्चात् 'लशक्वतद्धिते' से शकार का अनुबन्ध लोप करके 'त+ई' बना। 'आद् गुणः' से सकार गुण एकादेश होकर 'ते' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

तानि—'तद्+जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से 'शि' आदेश तथा शकार लोप होने पर 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा नपुंसकस्य झलचः से

'नुम्' का आगम एवं 'उम्' का अनुबन्ध लोप होने पर एवं 'त्यदादीनाम:' से दकार को अत्व तथा अतो गुणे से पररूप एकादेश होकर 'त न् इ' बना। तब 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घ होने पर तथा मिलाकर 'तानि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—एतद्, यत् एवं त्यद् आदि सर्वनाम शब्दों के नपुंसकलिङ्ग में तद्वत् रूप ही सिद्ध होंगे तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूप एक समान होंगे एवं शेष रूप पुलिङ्गवत् सिद्ध होंगे।

गवाक्, गवाग्—गामञ्चतीति 'गवाक्' यह विग्रह करने पर 'गो' शब्द से प्रत्यय करके उपपद समास में सुप् का लोप होने पर 'गो अन च्' ऐसा स्थित रहने पर कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सु' विभक्ति के आने पर 'गो न् च्+सु' इस स्थिति में 'अनिदितां हल उपधाया: क्ङिति' सूत्र से नलोप होने पर 'गो अच् सु' यह शेष रहने पर 'अवङ् स्फोटायनस्य' से 'अवङ्' आदेश होने पर ङकार की इत्संज्ञा एवं लोप करके 'ङिच्च' सूत्र से अन्तादेश करने पर 'उतक:' सवर्णे दीर्घ: से सवर्ण दीर्घ होकर 'गवाच् सु' बना। तब 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप तथा 'क्विन् प्रत्ययस्य कु:' से कुत्व अर्थात् चकार को ककार करके 'गवाक्' चर्त्वाभाव पक्ष में 'गवाग्' ये दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हुए।

गोची—'गो अन् च्+औ' इस स्थिति में 'अनिदितां०' इत्यादि से नकार लोप, 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश तथा शकार लोप करके 'यचि-भम्' से भसंज्ञा होने पर 'अच:' से अच् के अकार का लोप और संयुक्त करके 'गोच्+ई=गोची' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

'गवाञ्चि'—'गो अन् च्+जस्' इस स्थिति में 'अनिदितां' इत्यादि से नलोप, 'जश्शसो: शि:' से जस् के स्थान पर 'शि' आदेश, 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा, 'नपुंसकस्य झलच:' से 'नुम्' का आगम और उम् को अनुबन्ध लोप करके तथा 'शि' के शकार का लोप करके 'गो अनन् च इ' बना। तब 'अवङ् स्फोटायनस्य, से अवङ् आदेश तथा ङकार लोप, 'ङिच्च' से अन्तादेश तथा दीर्घत्व 'गवान् च् व' शेष रहा तब 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार करके एवं 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से परसवर्ण और संयोग करके 'गवाञ्चि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

शकृत[1]—'शकृत्+सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप होने पर उपरि लिखित रूप सिद्ध हुआ।

---

१. शकृत-पुरी पर्याय: (मल या विष्टा)।

शकृती—'शकृत्+औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से औ के स्थान पर 'शी' आदेश तथा शकार का लोप करके 'शकृत्+ई' बना। तब मिलाने पर 'शकृती' रूप सिद्ध हुआ।

शकृन्ति—'शकृत्+जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से जस् के स्थान पर शि आदेश तथा शकार लोप एवं नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का लोप करके 'शकृन् त्+इ' बना। तब मिलाने पर 'शकृन्ति' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ददत्—'ददत्+सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप होकर उपरि लिखित रूप ही शेष रहा। अतः वह 'ददत्' अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

ददती—'ददत्+औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' सूत्र द्वारा 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश होने पर तथा शकार की इत्संज्ञा एवं उसका लोप होकर 'ददत्+ई' यह शेष रहा। तब परस्पर संयोग करके 'ददती' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

(वैकल्पिक नुमागम सूत्र)

२. **वा नपुंसकस्य—७।१।७९।**

अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति॥ तुदत्॥

अर्थ—अभ्यस्त संज्ञक से पर जो शतृ प्रत्ययान्त क्लीब (नपुंसक) अङ्ग को नुमागम हो, विकल्प से, सर्वनाम स्थान के परे।

ददन्ति—'ददत्+जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से जस् के स्थान पर 'शि' आदेश करने पर तथा शकार लोप करके 'ददत्+इ' बना। 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम प्राप्त हुआ 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से उसका निषेध हो गया। तब 'वा नपुंसकस्य' से 'नुम्' का आगम होने पर तथा उम् का लोप हो गया तब 'ददन् त् इ' बना। तदनन्तर 'नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार का परसवर्ण होकर एवं परस्पर संयुक्त करके 'ददन्ति' तथा 'नुम्' के अभाव में 'ददति' ये दोनों रूप सिद्ध हुए।

तुदत्—'तुद् व्यथने' धातु से शतृ प्रत्यय करके कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा तथा 'सु' विभक्ति लगने पर 'तुदत्+सु' 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लोप होने पर उपर्युक्त रूप यथावत् शेष रहा तथा वही 'तुदत्' रूप सिद्ध हुआ।

('नुम्' के आगम का अन्य—वैकल्पिक सूत्र)

३. **आच्छीनद्योर्नुम्—७।१।८०।**

अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य 'नुम्' वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति॥

अर्थ—अवर्णान्त से पर जो शतृ प्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको नुमागम हो, 'शी' और 'नदी' के परे विकल्प से।

दीव्यन्ती—'दीव्यत् + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश शकार लोप 'श्यप्श्यनोर्नित्यम्' से 'नुम्' का आगम तथा 'उम्' का लोप नकार को अनुस्वार एवं अनुस्वार को परसवर्ण करके 'दीव्यन् त् + ई' बना। तब परस्पर मिलाकर 'दीव्यन्ती' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

धनुः—'धनुष् + सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सुलोप होने षकार को असिद्ध होने से 'ससजुषोरुः' से रुत्व तथा अनुबन्ध लोप एवं 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ का विसर्ग करके 'धनुः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

धनुषी—'धनुष् + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश तथा शकार का लोप करके 'धनुष् + ई' बना। तब परस्पर मिलाकर 'धनुषी' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

धनूंषि—'धनुष् + जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' के द्वारा 'जस्' के स्थान पर 'शि' का आदेश करके शकार की इत्संज्ञा व लोप होकर 'शि सर्वनाम स्थ. ग्म्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' का आगम, मित् होने से अन्तिम अच् का आगम हुआ। तब 'सान्तमहतः संयोगस्य' से 'सान्तसंयोग' उपधा को दीर्घ होने पर 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार एवं 'नम्विसर्जनीयसर्वव्यवायेऽपि' से सकार को षत्व तथा संयोग करके 'धनूंषि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—इसी प्रकार ('धनुष्' की भाँति ही) रूप 'चक्षुष्' के सिद्ध होंगे।

पयः—'परस् + सु' इस स्थिति में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' विभक्ति का लोप होने पर "ससजुषोरुः" से सकार को रुत्व तथा उसे विसर्ग "खरवसानयोः विसर्जनीयः" से होकर 'पयः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पयसी—'पयस् + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश, शकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर 'पयस् + ई' शेष रहा। तब परस्पर संयुक्त करके 'पयसी' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

पयांसि—'पयस् + जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश एवं शकार की इत्संज्ञा व लोप होकर 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा हो गयी। तदनन्तर 'नपुंसकस्य झलचः' से नुमागम होकर 'सान्तमहतः संयोगस्य' से सान्त संयोग की उपधा को दीर्घ करने पर नकार को अनुस्वार तथा अन्ततः संयोग करके 'पयांसि' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हुआ।

सुपुमांसि—'सुपुंस् + जस्' इस स्थिति में 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश करके तथा शकार लोप होकर 'शि सर्वनाम स्थानम्' से सर्वनाम स्थान संज्ञा हो गयी। तब 'पुंसोऽसुङ्' से 'असुङ्' होकर एवं ङकार की [illegible]ंज्ञा और लोप करके उकार का भी अनुबन्ध लोप होने पर 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से सम्पूर्ण के स्थान पर आदेश प्राप्त होकर 'ङिच्च' से अन्तादेश होकर 'सुपुमस् + इ' बना।

तब 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् का आगम एवं 'सान्तमहतः···' से सान्त उपधा को दीर्घत्व तथा नकार को अनुस्वार करके 'सुपुमांसि' यह रूप सिद्ध हुआ।

अदः—'अदस्+सु' इस दशा में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' अथवा 'अम्' का लोप करके प्रत्यय लक्षण के अभाव में 'अदस औ' सूत्र नहीं प्रवृत्त हो तथा 'अदसोऽसेर्दादुदामः' से मुत्व भी नहीं हुआ। 'अदस्' शब्द के सान्त होने से सकार को रुत्व-विसर्ग होने पर 'अदः' रूप सिद्ध हुआ।

अमूनि—'अदस्+जस्' इस स्थिति में 'त्यदादीः०' इत्यादि से अत्व, एवं 'अतो गुणे' से पररूप, 'जश्शसोः शिः' से 'शि' आदेश शकार लोप, 'शिसर्व०' इत्यादि से सर्वनाम स्थान संज्ञा, 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' आगम उम् का लोप करके 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त उपधा को दीर्घत्व 'अदानि' बनने पर 'अदसोऽसे०' इत्यादि से दकार से परे अकार को उकार हो गया एवं दकार को मकार तब 'अमूनि' यह रूप सिद्ध हुआ।

अदस् शब्द के नपुं० लि में रूप—अदः, अमू, अमूनि

अदः अमू अमूनि

शेष पुंवत्

"इति हलन्त नपुंसकलिंग प्रकरणम्"

अव्यय प्रकरणम्

(अथाऽव्ययानि)

(अव्यय संज्ञा सूत्रम्)

१. स्वरादिनिपातमव्ययम्—१।१।३७॥

स्वरादयो निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः । स्वर् (स्वः)[१] । अन्तर् (अन्तः)[२] । प्रातर्[३] । पुनर्[४] । सनुतर्[५] । उच्चैस्[६] । नीचैस्[७] । शनैस्[८] । ऋधक्[९] । ऋते[१०] । युगपत्[११] । आरात्[१२] । पृथक्[१३] । ह्यस् (ह्यः)[१४] । श्वस् (श्वः)[१५] । दिवा[१६] । रात्रौ[१७] । सायम्[१८] । चिरम्[१९] । मनाक्[२०] । ईषत्[२१] । जोषम्[२२] । तूष्णीम्[२३] । बहिस् । अवस्[२४] । समया । निकषा[२५] ।

अर्थ—स्वरादि और निपात अव्यय संज्ञक हों। वे अव्यय निम्नवत् हैं :—
स्वर् (स्वः)—स्वर्ग । अन्तर् (अन्तः)—मध्य । प्रातर् (प्रातः)—प्रातःकाल । पुनः—
फिर । सनुतर् (सनुतः)—अन्तर्धान । उच्चैस् (उच्चैः)—ऊर्ध्वभाग में । नीचैस् (नीचैः)
—अधो भाग में । शनैस् (शनैः)—धीरे-धीरे । ऋधक्—सचमुच । ऋते—बिना ।
युगपत्—एक साथ । आरात्—दूर या समीप में । पृथक्—भिन्न । ह्यस् (ह्यः)—
पूर्व दिन में (बीता हुआ कल) । श्वः—पर दिन में (आने वाला कल) । दिवा—

---

१. स्वरिति स्वर्गे परलोके च ।
२. अन्तरिति मध्ये ।
३. प्रातरिति प्रत्यूषे ।
४. पुनर् इति अप्रथमे विशेषे च ।
५. सनुतर् इति अन्तर्धाने ।
६. उच्चै इति महति ।
७. नीचैर्-अत्यल्पे ।
८. शनैः क्रियामान्द्यो ।
९. ऋधक् सत्ये ।
१०. ऋते वर्जने ।
११. युगपद् एककाले ।
१२. आराद्दूरसमीपयोः ।
१३. पृथग् भिन्ने ।
१४. ह्यस् अतीतेऽह्नि ।
१५. श्वोऽनागतेऽह्नि ।
१६. दिवा दिवसे ।
१७. रात्रौ निशि ।
१८. सायं निशामुखे ।
१९. चिरं बहुकाले ।
२०. मनाग् अल्पे ।
२१. ईषद् अत्यल्पे ।
२२. जोषं सुखे मौने च ।
२३. तूष्णीम् इति मौने ।
२४. बहिस् अवस् इमौ बाह्ये ।
२५. समया समीपे मध्ये च, निकषाऽन्तिके ।

स्वयम्[२६] । वृथा[२७] । नक्तम्[२८] । नञ्[२९] । हेतौ[३०] । इद्धा[३१] । अद्धा[३२] । सामि[३३] । वत् । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत्[३४] । सना । सनत् । सनात्[३५] । उपधा[३६] । तिरस्[३७] । अन्तरा[३८] । अन्तरेण[३९] । ज्योक्[४०] । कम्[४१] । शम्[४२] । सहसा[४३] । बिना[४४] । नाना[४५] । स्वस्ति[४६] । स्वधा[४७] । अलम्[४८] । वषट् । श्रौषट् । वौषट्[४९] । अन्यत्[५०] । अस्ति[५१] । उपांशु[५२] ।

दिन । रात्रौ—रात में । सायम्—सन्ध्याकाल में । चिरम्—विलम्ब । मनाक्—थोड़ा । ईषत्—बहुत थोड़ा किंचित्, जोषम्—कानाफूसी । तूष्णीम्—चुप । बहिस् (बहिः)—बाहर । अवस् (अवः)—बाहर । अधस् (अधः)—नीचे । समया, निकषा—समीप । स्वयम्—अपने ही । वृथा—व्यर्थ । नक्तम्—रात । न, नञ्—नहीं । हेतौ—कारण । इद्धा—प्रकाश्य । अद्धा—स्फुट (स्पष्ट) । सामि—आधा । वत्—समान । ब्राह्मणवत्—ब्राह्मण के समान । क्षत्रियवत्—क्षत्रिय के समान । सना, सनत्, सनात् नित्य । उपधा—घूस, नजराना । तिरस् (तिरः)—टेड़ा, पराभव । अन्तरा—मध्य में । अन्तरेण—बिना, छोड़कर । ज्योक्—शीघ्र, सम्प्रति । कम्—जल, निन्दा, सुख । शम्—कल्याण । सहसा—अकस्मात् । बिना—अभाव । नाना—अनेक ।

अव्ययों के क्रमशः अर्थ—स्वस्ति—मङ्गल, शुभ । स्वाहा—देव हविर्दान में । स्वधा—पितृहविर्दान में । अलम्—भूषण, पर्याप्त (बस), व्यर्थ । वषट्, श्रौषट्, वौषट्—देवहविर्दान में । अन्यत्—और, दूसरा । अस्ति—सत्ता, विद्यमान । उपांशु—गुप्त । क्षमा—माफ । विहायसा—आकाश । दोषा—रात्रि । मृषा, मिथ्या—असत्य,

---

२६. स्वयम् आत्मना ।
२७. वृथेति व्यर्थे ।
२८. नक्तं रात्रौ ।
२९. नञ् निषेधे ।
३०. हेतौ निमित्ते ।
३१. इद्धा प्राकाश्ये ।
३२. अद्धा स्फुटावधारणयोः ।
३३. सामि इत्यर्धे जुगुप्सिते च ।
३४. वत् इति तुल्येऽर्थो ।
३५. सना, सनत्, सनात् नित्ये ।
३६. उपधाभेदे ।
३७. तिरस् अन्तर्धौ तिर्यगर्थे परिभवेच ।
३८. अन्तरा मध्ये विनार्थे च ।
३९. अन्तरेण वर्जने ।
४०. ज्योक् इति कालाधिक्ये प्रश्ने शीघ्रे सम्प्रत्यर्थे च ।
४१. कम् इति वारिमूर्ध निन्दा-सुखेषु ।
४२. शं सुखे ।
४३. सहसाऽऽकास्मिकाविमर्शयोः ।
४४. विनेति वर्जने ।
४५. नाना इत्यनेकविनार्थयोः ॥
४६. स्वस्तीति मङ्गले ।
४७. स्वधापितृदाने ।
४८. अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारण-निषेधे षु ।
४९. वषट्, श्रौषट् वौषट् हविर्दाने ।
५०. अन्यदन्यार्थे ।
५१. अस्तीति सत्तायाम् ।
५२. उपांशु इति अप्रकटोच्चारण-रहस्ययोः ।

क्षमा[५३] । विहायसा[५४] । दोषा[५५] । मृषा । मिथ्या[५६] । मुधा[५७] । पुरा[५८] । मिथो । मिथस्[५९] । प्रायस्[६०] । मुहुस्[६१] । प्रबाहुकम्, प्रवाहिका[६२] । आर्यहलम्[६३] । अभीक्षणम्[६४] । साकम् । सार्धम्[६५] । नमस्[६६] । हिरुक[६७] । धिक्[६८] । अथ[६९] । अम्[७०] । आम्[७१] । प्रताम्[७२] । प्रशान्[७३] । प्रतान्[७४] । मा । माङ्[७५] । आकृतिगणोऽयम्* ॥

झूठ । मुधा—व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन । पुरा पहले । मिथो, मिथस् (मिथः)—परस्पर, एकान्त । प्रायस् (प्रायः)—सम्भव, हो सकता है । मुहुस् (मुहु)—बार-बार । प्रबाहुकम्, प्रवाहिका—एक साथ, समान काल । आर्यहलम्—बलात्कार, जबरदस्ती । अभीक्षणम्—पुनः-पुनः, वारंवार । साकम्, सार्धम्—साथ-साथ । नमस् (नमः)—नमस्कार, प्रणाम । हिरुक्—बिना । धिक्—धिक्कार, छी-छी । अथ—अनन्तर,

---

५३. क्षमेति क्षान्तौ ।

५४. विहायसा आकाशार्थे ।

५५. दोषेति रात्रौ ।

५६. मृषा, मिथ्येत्येतौ वितथे ।

५७. मुधेति व्यर्थे ।

५८. पुरा इत्यविरते भविष्यदासन्ने च ।

५९. मिथो मिथस् रहः सहार्थयोः ।

६०. प्रायस् (प्रायः) इति बाहुल्ये ।

६१. मुहुर् इति पुनरर्थे ।

६२. प्रबाहुकम् समान काले (प्रवाहिका इति पाठान्तरम्) ऊर्ध्वार्थे च ।

६३. आर्यहलम् इति बलात्कारे (आर्येति प्रतिबन्धे अलमिति प्रतिषेधविवादयोः) ।

६४. अभीक्षणम् इति पौनः पुन्ये ।

६५. साकं सार्धम् एतौ सहार्थे ।

६६. नमस् (नमः) नतौ प्रणामार्थे वा ।

६७. हिरुक् वर्जने ।

६८. धिङ् निन्दा भर्त्सनयोः ।

६९. अथ आनन्तर्थे ।

७०. अम् शैघ्येऽल्पे च ।

७१. आम् अङ्गीकारे ।

७२. प्रताम् ग्लानौ ।

७३. प्रशान् समानार्थे ।

७४. प्रतान् विस्तारे ।

७५. मा माङ् एतौ निषेधाशङ्कयोः ॥

* इसी प्रकार आकृति गण में पठित अन्य अव्ययभी ज्ञातव्य हैं :—कामं स्वाच्छन्द्ये, प्रकामम् अतिशये, भूयः पुनरर्थे, साम्प्रतं न्याय्ये, परं किन्त्वर्थे, साक्षात् प्रत्यक्षे, साची तिर्यगर्थे, सत्यम् अर्धाङ्गीकारे, मङ्क्षु आशु एतौ शीघ्रे, संवत् वर्षे, अवश्यं निश्चये, उषा रात्रौ, 'ओम्' अङ्गीकारे ब्रह्मणि च, भूः पृथिव्याम्, भुवः अन्तरिक्षे, झटिति झगिति तरसा शीघ्रो सुष्ठु प्रशंसायाम्, दुष्ठु निकृष्टे, सु पूजायाम्, कु कुत्सितेषदर्थयोः अञ्जसेतितत्व शीघ्रार्थयोः, मिथु वितथे, सु पूजायाम्, कु कुत्सितेषदर्थयोः अञ्जसेतितत्व शीघ्रार्थयोः, मिथु वितथे, सुदिशुक्लपक्षे, वदि कृष्णपक्षे अस्तमिति विनाशे, स्थाने युक्ते, वरम् ईषदुत्कर्षे, सुदिशुक्ल पक्षे, वदि कृष्णपक्षे इत्यादि ॥

और। (अथ किम्—और नहीं तो क्या ?) अम्—शीघ्र, थोड़ा, किंचित्। आम्—हाँ, स्वीकार, मन्जूर। प्रताम्—ग्लानि। प्रशान् (प्रशाम्)—समान। प्रतान्—विस्तार। मा, माङ्—नहीं, अस्वीकृत।

(आकृतिगण में पठित चादि-अव्यय)

च[1]। वा[2]। अह। एव। एवम्। नूनम्। शश्वत्। युगपत्। भूयस्। कूपत्। कुवित्। नेत्[3]। चेत्। चण्। कच्चित्। यत्र। नह। हन्त। माकिः। माकिम्। नकिः। नकिम्। माङ्। नञ्। यावत्। तावत्। त्वै। द्वै। न्वै। रै। श्रौषट्। वौषट्। स्वाहा। स्वधा। वषट्। तुम्[4] तथाहि। खलु। किल। अथो। अथ। सुष्ठु। स्म। आदह[5]। (वार्तिक—उपसर्ग विभक्ति स्वर प्रतिरूपकाश्च)*। अवदत्तम्[6]। अहंयुः। अस्तिक्षीरा। अ। आ। इ। ई। उ। ऊ। ए। ऐ। ओ। औ। पशु। शुकम्। यथा कथाच। पाट्। प्याट्। अंग। है। हे। भोः। अये। द्य। विषु। एकपदे। युत्। आतः।

आकृतिगण में पठित चादि-अव्ययों के अर्थः—च-पुनः अथवा और। वा—अथवा। ह—प्रसिद्ध। अह—अद्भुत, खेद। एव—अवश्य, ही। एवम्—इस प्रकार। नूनम्—निश्चय, तर्क। शश्वत्—सदा, साथ-साथ, पुनः २। युगपत्—एकसाथ। भूयस् (भूयः)—पुनः, प्रचुर, ढेरसा। कूपत्, सूपत् प्रश्न, प्रशंसा। कुवित्—बहुत, प्रशंसा। नेत्—शङ्का। चेत्, चण—यदि। कच्चित्—प्रश्न, कोई। यत्र—जहाँ। नह—प्रत्यारम्भ। हन्त—हर्ष, विषद। माकिः; माकिम्, नकिः—विना, वर्जन। नञ्—नहीं। यावत्—जबतक। त्वै, दै, न्वै—वितर्क। सै—दान, हीन, सम्बोधन। श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा—देवहविदान। अलम्—पर्याप्त। स्वधा, वषट्—पितृ हविर्दान। तुम्—तुम। तथाहि—जैसे, इस प्रकार। खलु, किल—निश्चय। अथ—अनन्तर। सुष्टु—अच्छा। स्म भूतकाल। अदह—निन्दा।

---

१. चेति समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहारेषु—(च का प्रयोग समुच्चय, अन्वाचय, इतर, इतर योग और समाहार (समूह) अर्थों में होता है)।
२. 'वा' विकल्प, उपमा, इव तथा समुच्चयादि, अर्थों में भी प्रयुक्त होता है।
३. नेत्—शंका, प्रतिषेध, विचार—समुच्चय के अर्थों में प्रयुक्त होता है।
४. तुमिति तुंकारे (गुरु तुं कृत्य हुंकृत्य)।
५. आदह—उपक्रम, हिंसा, कुत्सा अथवा निन्दाहि अर्थों में प्रयुक्त होता है।
६. 'अवदत्तम्'—शब्दों में अव-उपसर्ग के समान आकृति वाला होने पर भी यहाँ उपसर्ग नहीं है। अतः इसकी उपसर्ग से समानता होने से अव्यय ही मान। जाता है। इसी प्रकार विदत्त प्रदत्त इत्यादि। उपसर्ग भिन्नता के कारण से 'अच उपसर्गान्तः' सूत्र से तादेश नहीं होता जैसा कि कहा गया है :—

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते ॥ इति ॥

वार्तिक का अर्थ—उपसर्ग प्रतिरूपक, विभक्त्यन्त प्रतिरूपक, और स्वर प्रतिरूपक शब्दों का भी चादिगण में पाठ समझाना चाहिए। (प्रतिरूपक का अर्थ है—'सदृश')। अवदत्तम्—दिया। अहंयु—अहंकारी। अस्तिक्षीरा—दूधवाली। अ—सम्बोधन। आ—वाक्यस्मरण। इ—सम्बोधन, जुगुप्सा, विस्मय। ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ—सम्बोधन। पशु—सम्यक्। शुकम्—शीघ्र। यथा कथाच—जब कभी। पाट्, प्याट्, अङ्ग, हे, है, भोः अये—सम्बोधन। द्य—हिंसा, विषु—अनेक। एकपदे—सहसा। युत्—निन्दा। अतिः, अतः—इसलिए।

चादिरप्याकृतिगणः[1] ॥

तसिलादयः प्राक् पाशपः। शस् प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोर्थाः तसिवती। नानाञौ। एतदन्तमप्यव्ययम्[2] ॥

विशेष—(i) 'पञ्चम्यास्तसिल' सूत्र से लेकर 'द्वित्र्योश्च धमुञ्' सूत्र पर्यन्त आने वाले प्रत्ययों से बने शब्द भी अव्यय की सीमा में परिगणित होते हैं जैसे अभितः परितः इत्यादि। इससे तसिल् एवं धमुञ् आदि वाले तद्धितान्त शब्द जानने चाहिए।

अम्, आम्—स्वीकारोक्ति वाचक अव्यय।

(ii) संख्या वाची शब्दों के योग में 'कृत्वसुच् अर्थात् प्रत्यय, द्वि, त्रि, चतुर् शब्दों से 'सुच्' प्रत्यय 'विभाषा बहोर्धा' सूत्र के द्वारा हो तो है एवं 'तेन तुल्यं' से वत् प्रत्यय होता है तथा 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि से तसि प्रत्ययों से बने तद्धितान्त शब्द और न (नञ्) एवं अन् (नञ्) समास वाले अन्तिम अव्यय शब्द कहलाते हैं।

२. **कृन्मेजन्तः—१।१।३६॥**

कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै॥

---

१. तद्धितश्चाऽसर्वविभक्ति—सूत्र के द्वारा उपर्युक्त वृत्ति का अभिप्राय निष्कर्षतः ज्ञातव्य है कि जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हों, ऐसा जो तद्धितान्त वह भी अव्यय संज्ञक हों।

२. चादि अव्ययों के कतिपय अन्य उदाहरण—यतद्—'हेतु' के अर्थ में। आहोस्वित्—विकल्प में। सीम—सर्वतो भाव में। शुकम्—अतिशयार्थ में। अनुकं—वितर्क में। शंवद्—अन्तः करण एवं सम्मुख के अर्थ में। व—पादपूरण और इव अर्थ में। दिष्टया—आनन्द में। चटु, चाटु—प्रिय वाक्य। हुम्—निन्दा या फटकार। इव—समान (सादृश्य)। अद्यत्वे—आजकल, अब।

अर्थ—कृत् जो मान्त और एजन्त तदन्त की भी अव्यय संज्ञा हो। स्मारं स्मारम्—स्मरणकर करके। जीवसे—जीने के लिए। पिबध्यै—पीने के लिए।

३. क्त्वातोसुन्कसुनः—१।१।४०॥

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः॥ कृत्वा—करके। उदेतोः—उदय होकर। विसृपः—फैलकर।

अर्थ—क्त्वा प्रत्ययान्त, तोसुन् प्रत्ययान्त और कसुन् प्रत्ययान्त की भी अव्यय संज्ञा हो।

४. अव्ययीभावश्च—१।१।४१॥

अधिहरि॥

अर्थ—अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होती है।

(अव्ययार्थ)

अधिहरि—हरि में।

(आप्, सुप् का लुक् (लोप) सूत्र)

५. अव्ययादाप्सुपः—२।४।८२॥

अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्॥

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥"
"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥"

वगाहः, अवगाहः। पिधानम्। अपिधानम्॥ **(इत्यव्ययानि)**

अर्थ—अव्यय से विहित 'आप्' और सुप् का लुक् हो।

तत्रशालायाम्—उस घर में। वगाहः, अवगाहः—स्थान। वाचा—वाणी। निशा—रात्रि। दिशा—दिशा। पिधानम्, अपिधानम्—ढक्कन।

"जिस शब्द का तीनों लिङ्गों में, सब विभक्तियों में, सब वचनों में समान रूप हों और जो कुछ भी विकार को प्राप्त न करे वह अव्यय कहलाता है।"

"भागुरि आचार्य 'अव' तथा 'अपि' उपसर्ग के आदि अकार का लोप करते हैं।"

जैसे—अव+गाहः=वगाहः। अपि+धानम्=पिधानम्। यह आचार्य जी हलन्त शब्दों से स्त्रीलिंग में आप् (टाप्) भी कहते हैं। यथा—वाच्+आ=वाचा। निश्+आ=निशा। दिश्+आ=दिशा। पाणिनि मुनि के मत से अकार का लोप विधायक कोई सूत्र नहीं है। अतः 'अवगाह' और 'अपिधानम्' ये भी रूप होते हैं।

विशेष—(१) जाति वाचक शब्द, समूहार्थक शब्द, और समष्टि बोधक शब्दों की यदि विभिन्नता दिखानी नहीं हो तो एकवचन में ही प्रयोग होता है। यथा—वर्णानां ब्राह्मणः श्रेष्ठः, बलवती सेना, विद्वद्गणः आदि। एवं समाहार द्वन्द्व और द्विगु समास से परिनिष्ठित शब्दों का भी एक वचन में ही प्रयोग होता है। यथा—पाणिपादम्, त्रिभुवनम् आदि।

(२) अश्विनी कुमार तथा दम्पति, जम्पति शब्दों का द्विवचन में ही प्रयोग होता है।

(३) दार, अक्षत, लाज, असु और प्राण शब्द नित्य बहुवचन तथा पुल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं एवं अप्, वर्षा, सिकता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। अस्मद् शब्द तथा आदर अर्थ में अन्य शब्द भी विकल्प से बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार अव्यय प्रकरण समाप्त हुआ।